सिद्ध योग

संस्थापक संरक्षक एवं सम्पादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

मई १९७२
वर्ष-८ अंक-२

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
संवाई, आगरा

प्रकाशक

इस अंक में—

क्रम संख्या	लेख	लेखक	पृष्ठ
१.	तद् ब्रह्म त्वमसि	....	१
२.	यौगिक व्यायाम और आसनों का महत्व (हमारा विशेष लेख)	योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	२
३.	उपासना	श्री हरिप्रसाद उपाध्याय	५
४.	जन्मिवास	आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा	९
५.	योग की महत्ता	श्री हीरालाल शास्त्री	१४
६.	ध्यान का स्वरूप और उसकी आवश्यकताएँ	स्व० श्री मेहरे बाबा	१७
७.	आदमी तर्क का घरौंदा है (कविता)	श्री राघवेन्द्र तिवारी	२२
८.	त्याग और वैराग्य का भेद	श्री सियारामजी महाराज	२३
९.	चेतन मन	श्री स्वामी आत्मानन्दजी	२५
१०.	भजन भेद है न्यारा (कविता)	महात्मा कबीरदास जी	२८
११.	सिद्धयोग ही क्यों ?	श्री कृष्णानन्द गुप्त	३०
१२.	गुरु-भक्त बालक उपमन्यु	श्री सुरेन्द्र बहादुरसिंह	३५
१३.	योगिराज भगवान् शिव का योग-शक्ति से पार्वती का भवन-निर्माण	श्री गुरुनारायण पाण्डेय	३८
१४.	मनः एवं प्राण-शक्ति का निरूपण	श्री माणिकचन्द्र उमरवैश्य	४२
१५.	आश्रम समाचार	संवाददाता द्वारा	४५

संयुक्त सम्पादक

तिवयं

फोन ५३१६८

वार्षिक मूल्य १५ रु०, एक प्रति १.५० पैसे मात्र

अवश्य आइये !

ॐ

अवश्य देखिये !!

योग साधन आश्रम ऋषिकेश

का

वार्षिक-योग महोत्सव

सभी भाई बहिनों को यह जानकर परम हर्ष होगा कि अपने योग-साधन आश्रम ऋषिकेश का वार्षिक योग महोत्सव ज्येष्ठ सुदी अष्टमी, नवमी, दशमी तदनुसार ता० २६, २७, २८ मई ७७ ई० गुरुवार, शुक्रवार, शनिवार को मनाया जायगा।

उत्सव का कार्यक्रम बहुत ही रोचक एवं हृदयग्राही बनाने का आयोजन किया जा रहा है। उत्सव में योग सिद्धान्तों पर उच्चकोटि के प्रवचन उपदेश, भजन एवं सुमधुर शास्त्रीय संगीत आदि का कार्यक्रम रहेगा। आश्रम के ब्रह्मचारी अपनी यौगिक क्रियाओं का प्रदर्शन भी करेंगे। सभी सत्संग प्रेमियों को इस समारोह में सम्मिलित होकर लाभ उठाना चाहिए।

सभी भाई-बहिनों को श्री गुरुदेवजी की ओर से इस उत्सव के आमन्त्रण-पत्र भी भेजे जा रहे हैं। किन्तु डाक व्यवस्था ठीक न होने के कारण सभी पर नहीं पहुंच पाते हैं। अतः सभी भाई-बहिन इस सूचना को ही अपना आमन्त्रण समझते हुए उत्सव में सम्मिलित हों।

नोट—२८ मई शनिवार गंगा दशहरा को नगर शोभा-यात्रा (जलूस) का आयोजन है जिसमें बैंड बाजे के साथ श्री बालकृष्ण संकीर्तन मण्डल आगरा, श्री ललितमोहन संकीर्तन मण्डल आगरा के अतिरिक्त और भी अनेक मण्डलियां भाग ले रही हैं। शोभा-यात्रा सभी सुन्दर झांकियों एवं गाजे-बाजे के साथ शाम के ६ बजे योग-साधन आश्रम से आरम्भ होकर ऋषिकेश के मुख्य बाजारों से होती हुई रात के लगभग ११ बजे आश्रम पहुंचेगी। अतः सभी सत्संग प्रेमियों को उत्साह के साथ इस शोभा-यात्रा में सम्मिलित होना चाहिए।

निवेदक :—

मन्त्री—योग-साधन आश्रम

रेलवे रोड, ऋषिकेश (उ० प्र०)

सिद्ध योग

वर्ष १०
अङ्क २

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखं विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविषयतन् योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

मई
१९७७

❀ तद् ब्रह्म न स्मरसि ❀

पातालमाविशसि यासि नभो विलंघ्य,
दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानसचापलेन ।
भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मनानं,
तद् ब्रह्म न स्मरसि निर्वृतिमेपि येन ॥

अर्थात्

रे मन ! तू अपने चाञ्चल्य से कभी तो पाताल में घुस जाता है, कभी तो ऊँचे से ऊँचे आकाश तक को पार कर जाता है, कभी सब दिशाओं का चक्कर काट जाता है। जब जहाँ के विषय की लालसा होती है, तब वहाँ पहुँच जाते हो, परन्तु भ्रम से भी कभी निर्मल और आत्म-हितकारी उस परब्रह्म परमात्मा का चिन्तन नहीं करता जिससे यथार्थ सुख प्राप्त होता है।

हमारा विशेष लेख—

यौगिक व्यायाम और आसनों का महत्व

योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का एक भाषण

(हमारे प्रतिनिधि द्वारा)

[कलकत्ता यौगिक सङ्घके रजत-जयन्ती समारोह में श्री सद्गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज का 'यौगिक व्यायाम और आसनोंके महत्व' पर जो उल्लेखनीय महत्वपूर्ण भाषण हुआ था, उसका सार-अंश हम यहां 'सिद्धयोग' के पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित कर रहे हैं।']

—सं० सम्पादक

कलकत्ते का 'यौगिक सङ्घ' योगाभ्यास के प्रशिक्षण की एक सुविख्यात संस्था है जिसका संचालन और नियन्त्रण वहां के सुपरिचित समाजसेवी सुनागरिक वयोवृद्ध श्री राधाकृष्ण जी नेवटिया के निर्देशन में अन्य अनेक योग-प्रेमी साधकों के सहयोग से होता है। श्री महाराज जी इसी सन्दर्भ में कलकत्ता गये थे जहां वे ६ से १२ अप्रैल तक विविध उपादेय कार्यक्रमों में संलग्न रहे। देश के प्रायः सभी ख्याति प्राप्त योगियों और योगाचार्यों को सादर आमन्त्रित करके यहां बुलाया गया था। सभी योगाचार्यों ने योग और यौगिक जीवन के महत्व और उपादेयता पर अपने-अपने विचार व्यक्त किये थे।

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज को भी जयन्ती समारोह में सम्मिलित होने का निमन्त्रण प्राप्त हुआ था तथा विशेष रूप से सम्मेलन में पहुँचने का व्यक्तिगत रूप से भी उनसे आग्रह व अनुरोध किया गया था।

श्री महाराज जी यद्यपि आश्रम सम्बन्धी कार्यों में अत्यधिक व्यस्त थे, फिर भी श्री नेवटिया जी तथा कलकत्ता निवासी अपने अन्य अनेक योग-साधक शिष्यों के अनुरोध एवं आग्रह को स्वीकार करके वे आश्रम से चलकर ६ अप्रैल को प्रातः कलकत्ता जा पहुंचे थे। उनके साथ आश्रम के कतिपय ब्रह्मचारी तथा संगीत-रत्न योग प्रचारिका सुश्री उमा शर्मा भी थीं। अपने आगमन की सूचना श्री महाराज ने अपने कार्यालय से पहले ही यौगिक संघ के अधिकारियों तथा कलकत्ता की श्री सिद्धगुफा शाखा के कार्यकर्त्ताओं को भिजवा दी थी। अतः हवड़ा स्टेशन पर उनके स्वागतार्थ यौगिक संघ के कार्यकर्ता अधि-

कारी तथा श्री महाराज-श्री के अपने साधकों और शिष्यों की भारी भीड़ मेल-ट्रेन से वहां उनके पहुँचने से पहले ही जमा हो चुकी थी। श्री महाराज जी के ट्रेन से उतरते ही उन्हें फूल-मालायें पहनाकर सम्मानित किया गया तथा योगयोगेश्वर की जय तथा महाप्रभु श्री रामलाल की जय-जयकार से प्लेटफार्म गूँज उठा। आदर और सम्मान के साथ उन्हें स्टेशन से ले जाकर वहां ठहराया गया, जहां पहले से ही उनके आवास की व्यवस्था की गई थी। यह आवास-व्यवस्था डीबरे वालों की धर्मशाला में की गई थी, जो श्री सुभाष-चन्द्र बोस के बँगले महाजाती भवन और सन्मार्ग प्रेस के बीच में थी। श्री महाराज जी ने सम्मेलन के कार्यक्रमों में दो दिन भाग लेकर श्रोता-समूह को अनुग्रहीत किया।

श्री महाराज जी ने अपने पहले दिन के भाषण में यौगिक-संघ के साधकों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उन्होंने कहा कि कलकत्ता में यौगिक-संघ ही एकमात्र ऐसी संस्था है जिसके सैकड़ों साधक नित्य नियम से चालीस चौरंगी रोड पर सामूहिक रूप से अपनी साधना करते हैं। मुझे साधकों का उत्साह, लगन, नियमानुवर्तिता और आसन करने की पद्धति को देखकर बड़ी भारी प्रसन्नता हो रही है। आगे आपने बताया कि योगासन करने की नियमानुवर्तिता का अवश्यम्भावी परिणाम यह होगा कि इन सभी साधकों की नाड़ी शुद्धि हो जायगी तथा मन की एकाग्रता होना भी स्वतः सम्भव है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का वीर्य कोश नाभि-मण्डल है और यौगिक आसनों की व्यायाम-पद्धति ऐसी होती है जिसके परिणामस्वरूप वीर्य स्वतः ही ऊर्ध्व-गमन करता है। साथ ही वह नाड़ियों में व्यापक हो जाया करता है। इस प्रक्रिया का एक बड़ा लाभ यह होता है कि ऐसे साधक को कामादि वासना नहीं सताती, वह परम तेजस्वी हो जाता है तथा उसकी पांचों ज्ञाने-न्द्रिय शक्ति की वर्षा करने लगती है। इस प्रकार से साधक शक्तिवान बनकर संसार में यश और कीर्ति का भागी बनता है तथा सर्व साधारण को अपने पुरुषार्थ व पराक्रम पूर्ण कार्यों से आश्चर्यचकित कर दिया करता है।

योगासनों का ऐसा नियमित अभ्यास साधक को अन्तर्मुखता की ओर ले जाता है अर्थात् वह अन्तर्जगत में प्रवेश करने लगता है और थोड़े ही समय में उसकी स्थिति इस प्रकार की बनने लगती है कि साधक के हृदय कोश की अन्तर्गुहा में निहित सर्व व्यापक परमात्मा की सहायता मिलना उसे सम्भव हो जाता है और स्वतः ही उसे अन्तर्भूमिकायें प्रकट होने लगती हैं। साधक को यह प्रतीत होने लगता है कि यह अन्तर्भूमि है तथा इसके आद की यह और इसके बाद की भूमिका यह है।

श्री महाराज जी ने एक बार फिर अपने इस विचार को दुहराया कि योगासनों को निरन्तर नियमानुसार करने से ही साधक योग के परम तत्व समाधि को प्राप्त करने में सफल हो पाता है, अतः साधकों को नियमानुवर्तिता का पालन करना चाहिए।

अन्तिम दिन श्री महाराज जी का उपसंहारिक भाषण हुआ, जिसमें आपने बताया कि संसार में मानव समाज के इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण का मार्ग केवल योग-मार्ग ही है। इसी का अनुसरण करके वह निःश्रेयस और अभ्युदय की प्राप्ति कर सकता है। यदि मानव का नैतिक और चारित्रिक उत्थान अभीष्ट है तो ऐसा योग के यम-नियमों के परिपालन से ही सम्भव हो सकता है। अतः सद्गुरुओं के निर्देशन में योग-धर्म के प्रचार की आज अत्यधिक आवश्यकता है। कलकत्ते का यौगिक सङ्घ इस मार्ग का अनुसरण कर रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। सङ्घ के सञ्चालक वयोवृद्ध श्री नेवटियाजी और उनके अनेक साधक साथी इस प्रयास के लिए प्रशंसा बधाई और हम सबकी शुभकामना के पात्र हैं।

सम्मेलन में आये अन्य योगाचार्यों ने भी अपने विचार व्यक्त किये तथा सभी आगत योग-प्रचारकों का परिचय कराया गया।

श्री महाराजजी के साथ गईं उनकी परम कृपापात्र शिष्या सुश्री उमा शर्मा ने योग-परक गायनोंसे सम्मेलन के सभी श्रोताओं को भाव-विभोर बनाया। श्री कबीर का एक प्रसिद्ध पद जिसमें खेचरी-मुद्रा के वर्णन पर विशेष रूप से सराहा गया।

सम्मेलन की समाप्ति के बाद श्री महाराज जी सम्मेलन के आयोजकों एवं अपने कलकत्ता के निवासी अनेक शिष्यों से भावभीनी विदाई लेकर १३ अप्रैल को आश्रम वापिस आ गये।

श्री महाराज जी जिस डीलक्स ट्रेन से कलकत्ता से चले थे, उसी में बनारस से केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री श्री राजनारायण जी दिल्ली चलने को सवार हुए। स्वास्थ्य मन्त्री ने बनारस से टुण्डला तक का सभी समय श्री गुरुदेव जी के सम्पर्क में बिताया। बनारस में उनके पहुँचने पर घटित घटना का वर्णन सुनकर श्री महाराज जी ने उन्हें परामर्श दिया कि उन्हें सदा अपने अंग-रक्षकों के साथ ही चलना चाहिए। टुण्डला पर श्री महाराज जी ट्रेन से उतर कर सवाई आश्रम के लिए तथा स्वास्थ्य मन्त्री श्री राजनारायण जी दिल्ली को रवाना हो गये।

उपासना

—श्री हरिप्रसाद उपाध्याय, बरेली

ज्ञान, श्रद्धा, भक्ति तथा प्रपत्तिपूर्वक उपास्य देव के प्रति तैलधारा की भांति दीर्घ-काल-पर्यन्त चित्त की एकाग्रता को उपासना कहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के १२वें अध्याय के तीसरे श्लोक के शङ्कर-भाष्य में लिखा है—

उपासनं नाम यथा शास्त्रमुपास्य-स्यार्थस्य विषयी करणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत् समान प्रत्यय प्रवाहेण दीर्घ-कालं यदासनं तदुपासनमाचक्षते।

'उपासना' संस्कृत साहित्य का शब्द है। संस्कृत के सभी शब्द प्रकृति-प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न होते हैं। उपासना शब्द में तीन अंश हैं—उप + आस् + अन। उप-उपसर्ग है—आस् + उपवेशने धातु है, भाव अर्थ में युच् (अन) प्रत्यय है। उपासनम् उपासना के समानार्थक शब्द सेवा, परिचर्या, समर्चना, शुश्रूषा आदि हैं।

उपासना में प्रपत्ति परमावश्यक है। प्रपन्न व्यक्ति के (अपने) पौरुष का अभिमान विलीन हो जाता है। इह-लोक तथा पार-लौकिक सभी कामनाओं की सिद्धि में साधक होते हुए भी उपासना स्वयं सुख रूप है। प्राणी विविध तपस्याओं द्वारा पवित्रात्मा एवं सुखी उतना अधिक नहीं हो पाता जितना कि अपने उपास्य देव की उपासना से पूतात्मा एवं सुखी हो जाता है। ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः के अनुसार ज्ञानी पुरुषों को यद्यपि सब प्रकार के सुख उपलब्ध हैं, फिर भी ज्ञानियों की अपेक्षा उपासक को उपास्य देव की उपासना से अधिक आनन्द प्राप्त होते रहते हैं। यह भौतिक जगत् में भी प्रायः देखा जाता है कि अपराधी प्रशासकीय राज-दण्ड से मुक्त होने के लिए राष्ट्रनायक की शरण में जाकर प्रार्थना द्वारा अपने को राज-दण्ड से मुक्त कर पाता है।

विश्व नियन्ता अखिल ब्रह्माण्डनायक सर्व-लोक महेश्वर सर्व व्यापक सर्वान्तर्यामी परा-त्पर ब्रह्म सच्चिदानन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं अपने उपासक के योग-क्षेम का भार अपने ऊपर ले लेते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां,
ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां,
योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९/२२)

अर्थात् अनन्य भाव से चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं और निष्काम भाव से भजते हैं, उनका योग-क्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ। भगवत् के स्वरूप की प्राप्ति का नाम "योग" है और भगवत् प्राप्तिके निमित्त किये हुए साधन की रक्षा का नाम "क्षेम" है।

मनुष्य शरीर समस्त योनियों में श्रेष्ठतम है। प्रधानतः इसकी तीन अवस्थायें होती हैं। बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था। वृद्धावस्था आने के पूर्व सद्गुरु के शरणागत होकर वास्तविक आनन्द की प्राप्ति के लिए साधक को साधना करनी चाहिए, क्योंकि मनुष्य शरीर सदा लौकिक पदार्थों का ही चिन्तन करता रहता है, लौकिक सुख अस्थायी एवं क्षणिक रहता है, परब्रह्म ही महान् दिव्य अलौकिक अचिन्त्य रूप सनातन एवं अनन्त है जो न तो नेत्रों से न वाणी से न अन्य इन्द्रियों से न तप से न कर्म से ग्रहण किया जाता है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।

कतिपय दार्शनिक विद्वानों ने उपास्य देव के अनेक प्रकार के भेदों का निरूपण किया है पर वास्तव में "मिथ्यामिश्रोऽस्म्यहं विष्णो ! ब्रह्म विष्णु भवात्मया। सर्गे स्थालय मुनी-निष्कलः।" इस वचन के अनुसार निर्गुण, निराकार, निरञ्जन, निष्कल परब्रह्म परमेश्वर परमात्मा ही उपास्य देव कहे गये हैं।

सद्गुरु की उपासना एवं कृपा से विशुद्ध अन्तःकरण वाला लौकिक भोगों से विरक्त होकर निरन्तर उस निर्मल परब्रह्म की उपासना करके ब्रह्मानन्दके अलौकिक सुखको प्राप्त कर सकता है। यह परब्रह्म परमेश्वर उपासना रूप बल से हीन मनुष्य द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।" बलहीनेन = उपासना रूप बलहीनेन। आत्मा = परब्रह्म परमात्मा। अपने इष्टदेव का चिन्तन करना उपासनारूपी बल का संचय करना है।

जो समस्त लौकिक भोगों की आशा छोड़ कर एकमात्र परब्रह्म परमात्मा की ही उत्कट अभिलाषा रखते हुए निरन्तर विशुद्धभाव से उपासना करता है वह अवश्य परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप को जान सकता है और उनके स्वरूप में प्रविष्ट हो जाता है।

वीतरागभयक्रोधा,
मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा,
पूता मद्भावमागताः॥

अर्थात् राग, भय, क्रोध से रहित अनन्य भावसे सर्व शक्तिमान्, सच्चिदानन्द, परब्रह्म परमात्मा, अज, अविनाशी और सर्वभूतों को परमगति और परम आश्रयदाता मेरे में जो विशुद्ध मन होकर ज्ञानरूप तप से पूतात्मा हो मेरे स्वरूप को जान चुके हैं, वे ही मेरे शरणागत हो सकते हैं।

साधन चतुष्टय सम्पन्न जिज्ञासु, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के द्वारा उपनिषद्तत्त्व का उपदेश श्रवणकर तार्किक युक्तियों द्वारा अगाढ़

मनन करते हुए गुरूपदिष्ट ध्यानादि के अभ्यास द्वारा निदिध्यासन पूर्वक अहं ब्रह्मास्मि आदि का निरन्तर विचार करते हुए उस पर निष्ठारूढ़ होकर सम्यक् तत्त्वज्ञान विज्ञानस्वरूप परब्रह्म सत्ता में प्रवेश करके तद्रूप हो जाता है। वेद-वेदान्त, उपनिषद् तथा अन्य स्मृति ग्रन्थ आदि के कर्मकाण्ड तथा उपासनाकाण्ड का चरम लक्ष्य है कि जीव अधिकारानुसार कर्मोपासना में प्रवृत्त होकर अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा तत्त्व ज्ञान का अधिकारी बने और परमात्मा में निष्ठावान् होकर शाश्वत सुख-शांति प्राप्त करे, यही उपासना का चरम लक्ष्य है।

उपासना कुछ लोग ध्यानयोग के द्वारा करते हैं। कुछ लोग सांख्य योग के द्वारा, कुछ लोग कर्मयोग के द्वारा—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति,
केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन,
कर्मयोगेन चापरे॥

(गीता १३/२४)

परब्रह्म परमात्मा को कुछ लोग ध्यान के द्वारा देखते हैं। कुछ लोग सांख्ययोग के द्वारा, कुछ लोग कर्मयोग के द्वारा देखते हैं।

श्रीमद्भागवत में उपासना के तीन मार्ग हैं : १—भक्तियोग, २—ज्ञानयोग, ३—कर्मयोग।

(१) सत्य तत्व परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के लिए जो किया जाय उसे उपासना कहते हैं, यह सब परमात्मा ही परमात्मा है। आदि, मध्य, अन्त्य सब वही है। सत् असत् सब परमात्मा है। इस प्रकार की उपासना भक्तियोग की उपासना कही जाती है।

(२) असत् का त्याग करके सत् की उपासना ज्ञानयोग की उपासना कही जाती है।

(३) कर्मयोग में भी सत् की उपासना कही जाती है।

इस त्रिगुणमय जगत् में शाश्वत, चिरन्तन और निरतिशय आनन्द ही परमानन्द है, जो श्रीमद्भगवद्गीता में कहे गये भक्तियोग, ज्ञानयोग एवं कर्मयोग के द्वारा उपासकों को प्राप्त हो चुका है। इन्हीं मार्गों के द्वारा उपासकवृन्द अखिल ब्रह्माण्ड नायक निर्गुण, निराकार, परात्परब्रह्म परमात्मा की उपासना के आश्रित होकर साक्षात्कार करते रहते हैं।

श्रीमद्भागवत पुराण में भी कहा गया है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता,
नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च,
नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

अर्थ—मनुष्यों के कल्याण एवं परमानन्द के लिए ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के अतिरिक्त अन्य कोई भी उपाय नहीं है।

श्री देवीभागवत में भी मोक्ष की प्राप्ति में इन्हीं मार्गों को (कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग) सहायक कहा गया है। एतदतिरिक्त उपासक को अपने उपास्यदेव के सन्निकट पहुँचने का कोई भी मार्ग प्रदर्शित नहीं है।

मार्गास्त्रयो मे विख्याता,
मोक्ष प्राप्तौ नराधिप ।
कर्मयोगो ज्ञानयोगो,
भक्तियोगश्च सत्तम् ॥

मोक्ष की प्राप्ति में कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग की विशेषता व्यक्त की गई है।

उपासना में चार बातें प्रधान हैं—

(१) सात्विक आहार—

न्यायोपार्जित धन के द्वारा पवित्रता से बना हुआ अभक्ष्य एवं उत्तेजक पदार्थों से रहित परिमित भोजन सात्विक आहार है।

(२) सत्य भाषण—

वाणी द्वारा हित-मित एवं प्रियता से भरा शब्द बोलना ही सत्य भाषण है।

(३) संयम—

इन्द्रियों एवं मन पर नियन्त्रण रखना ही संयम है।

(४) सत्संग—

संतों का समागम एवं उनके कथा तथा उपदेशों का श्रवण-मनन करना ही सत्संग है।

आप्त जनों ने (आप्तस्तु यथार्थ वक्ता) श्री सद्गुरुदेव को सर्वश्रेष्ठ एवं सर्व महान् तथा दाता तीनों लोकों में माना है।

श्री सद्गुरु समान दाता नहीं,
तीन लोक के माहि।
सात द्वीप नव-खण्ड में,
श्री सद्गुरु से बड़ा न कोय।

गुरुर्ब्रह्मागुरुर्विष्णु गुरुः साक्षात्महेश्वरः।
गुरुरेकं परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥

गुरुदेव ही ब्रह्मा है, गुरुदेव ही विष्णु है, गुरुदेव ही देवाधिदेव महादेव है। गुरुदेव ही साक्षात् परब्रह्म है। ऐसे श्री गुरुदेव को नमस्कार करता हूँ।

इस सिद्धान्त के अनुसार श्री गुरुदेव ही उपास्यदेव एवं उपासनीय है। अतः परम कल्याणस्वरूप, ब्रह्मांड जो राशि-मंडल निरूपण परम कैवल्य, अबाधित परम तत्व, अनन्त शक्ति सम्पन्न, क्षण-क्षण वन्दनीय, अभिनन्दनीय एवं उपासनीय उपास्यदेव श्री सद्गुरुदेव के चरणारविन्द में परम निष्ठावान् होकर शाश्वत सुख को प्राप्त करे।

प्राणियों के अधिकाधिक दुःख एवं अविवेक श्री सद्गुरुदेव की उपासना से सदा के लिए दूर हो जाते हैं और सम्पूर्ण जगत् उन्हें ब्रह्ममय दिखाई देने लगता है।

आनन्दकन्द प्रातःस्मरणीय, योग योगेश्वर १०८ श्री रामलाल महाप्रभु जी की कृपा से विवेक-पथ से भ्रष्ट, कुल एवं आचार से हीन योगिनी रामरती के मन में एकाएक तीव्रतम वैराग्य झलक उठा। कुछ दिन वहीं रहने के बाद जंगल में चली गई और महाप्रभु जी की उपासना एवं समर्चना के द्वारा अपने को ब्रह्ममय देखने लगी। योगिनी रामरती के भक्त जब भी कहीं गई इस प्रकार उसका अन्वेषण तथा चिंतन करते हुए उसको जगदम्बा भवानी के रूप में देखते थे और अलभ्य लाभ उठाते थे। सदैवं सत्यम्।

शक्तिपात

[आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा एम. ए. एम-एड.]

अज्ञान के अन्धकार में पतित जीवों के उद्धार के लिए विश्व में अनादि काल से सन्त पैगम्बर और योगियोंका आविर्भाव होता रहा है। भारतवर्ष की तपः पूत वसुन्धरा को यह गौरव अन्य देशों की अपेक्षा कहीं अधिक प्राप्त है। हिरण्यगर्भ सदाशिव आसुरी, कपिल, पतंजलि, श्रीकृष्ण, अगस्त्य, विश्वामित्र, गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ आदि-आदि सहस्रों योगेश्वरों ने भिन्न-भिन्न देशकालों में अवतरित होकर अपनी योग-शक्ति से हजारों जीवों का कल्याण किया है। वर्तमान शताब्दी में श्रीरामकृष्ण, बाबा जी, महाप्रभु रामलाल आदि अनेक सिद्ध पुरुष हुए हैं और वर्तमान में भी हैं जो सिद्धयोग की परम्परा से शक्तिपात द्वारा जीवों की सुषुप्त शक्ति को संचालित कर देते हैं जिससे जीव अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर कृतकृत्य हो जाता है। ज्ञान से मार्ग का बोध मात्र होता है। उस मार्ग में प्रवेश योगमार्ग से ही सम्भव है। योगमें ज्ञान और भक्ति दोनों समाहित हो जाते हैं।

साधन भजन, जप तप, प्राणायाम आदि के करने भी अपने पुरुषार्थ से व्यक्ति की कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है। किन्तु साधन-योग अल्पायु जीव के लिए दुरूह है। एक-एक साधना की सिद्धि के लिए कई-कई वर्ष चाहिए तब कहीं अपने साधन के बल से समाधि-सिद्धि हो सकती है और किसी-किसी को जीवन-पर्यन्त जप करने पर भी समाधि-लाभ नहीं होता। जिन्होंने पूर्वजन्म में कुछ कमाई की है उन्हें समर्थ गुरु के सान्निध्य लाभसे ही समाधि सिद्धि हो जाती है। क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ कोटि के जीवों को यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि क्रम से साधन करने पड़ते हैं तब कहीं उनका तम तथा रजोगुण का पर्दा दूर होकर 'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' के नियमानुसार उन्हें प्रकाश मिल पाता है किन्तु जो सतोगुणी साधक एकाग्र और निरुद्ध कोटि के हैं उन्हें श्री सद्गुरुदेव की कृपा का फल (समाधि) तत्काल ही मिल जाता है। जिस क्षण गुरुदेव प्रसन्न होकर दीक्षा दे देवें या किसी साधक के लिए उनके मन में संकल्प उग जाय उसी क्षण उसका मन एकाग्रता की अनुभूति करने लगता है तथा—'गद्गद गिरा नयन बह नीरा' की स्थिति हो जाती है। सतोगुण के उद्रेक होने पर अश्रुपात रोमांच

आह्लाद सुषुप्ति अवस्था की स्थिति होने लगती है। श्री गुरुदेव कृपाकर यदि साधक को अपने मन की शक्ति देदें तो वर्षों का मार्ग कुछ पल में तय हो सकता है। अपनी शक्ति दूसरे को देना हर गुरु के वश की बात नहीं। जो सिद्ध गुरु हैं वही शिष्य में शक्तिपात करने में समर्थ हो सकते हैं। श्री रामकृष्ण देव का नाम इस प्रसंग में मुझे पुनः पुनः स्मरण हो आता है। वे गुरुओं की सामर्थ्य के बारे में एक उदाहरण दिया करते थे। सिद्धगुरु जहाज की सदृश होते हैं जिनमें बड़े-बड़े हाथी भी बैठकर पार उतर सकते हैं। कुछ साधन सिद्ध गुरुदेव नौका के सदृश होते हैं जो कुछ लोगों का ही भला कर सकते हैं। किसी इष्ट-सिद्ध की कृपाके बल पर गुरु बने हुए गुरुडम का दिखावा तो बहुत करते हैं किन्तु उनकी स्थिति उस लकड़ी के टुकड़े की सी होती है जो स्वयं तो समुद्र में तैर सकता है किन्तु एक कौवे के बैठते ही स्वयं भी डूबता है और बैठने वाले को भी डुबो देता है। कुछ समय पूर्व तीर्थराज पुष्कर में एक परमहंस भी रहते थे। वे तो थे बहुत शक्ति सम्पन्न किन्तु छिपे रूप में राजसी जीवन में रहते थे। वे कहा करते थे भाई मेरे पास लालटेन की बत्ती का उजाला है जिसमें मैं अपने वास्ते ही देख पाता हूँ, दूसरों को प्रकाश कैसे दे सकता हूँ।

इस प्रसंग में मुझे सिद्धयोग के जगदीश्वर योगेश्वर श्री गुरुदेव के श्रीमुख से कहा हुआ संस्मरण याद आता है। शास्त्रीय परम्परा में अपना नाम, कृपण का नाम, अपने बड़े पुत्र का नाम, अपनी पत्नी का नाम, तथा अपने गुरुदेव का नाम नहीं लेना चाहिए। यहाँ पर पाठकों की सूचनार्थ मैं 'श्री गुरुदेव' का स्पष्टीकरण उनके नामोल्लेख से करने की धृष्टता कर रहा हूँ। एक दिन योगयोगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज मौज में हम लोगों को कुछ बीती बातें सुनाने लगे। अपने श्री मुख से कहा कि महाप्रभु श्री रामलाल (आपके श्री गुरुदेव) ने जब आपको दूसरों को दीक्षा देने का आदेश दिया तो आपने इस विषयमें अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए विनम्रभाव से प्रभु जी से निवेदन किया कि गुरुदेव ऐसा करने से मेरा तपक्षीण होगा और मैं शक्ति से खाली हो जाऊँगा। आपके सरलता एवं निरभिमानता युक्त उत्तर को सुनकर श्री प्रभुजी ने आपसे कहा कि करने वाला मैं हूँ, निमित्तमात्र बनने से क्यों डरते हो?' प्रभुजी के आदेश को—शिरोधार्य कर आप योग-प्रचार और शक्तिपात दीक्षाओं से भारत के कोने-कोने में जा-जाकर जन-जन के हृदय की ग्रन्थि को खोलने का महान कार्य करते रहते हैं। सत्य भी है जिस कुँए में स्रोत है उसमें से कितना ही जल निकाल कर लोगों को पिलाया जाय, जल कम नहीं होता किन्तु जो कुँए स्रोत रहित हैं वे उसमें विद्यमान जल के खत्म हो जाने पर सूख जाते हैं।

श्री रामकृष्ण परमहंस के पास एक नव-

युवक नरेन्द्र अंग्रेजी के प्रोफेसर की प्रेरणा से एक दिन गये। बात यों हुई कि अंग्रेज प्रोफेसर वर्ड्सवर्थ कवि की कविता 'डेफोडिल्स' पढ़ा रहे थे। उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का जिक्र आया। कविता की व्याख्या करते-करते जब अतीन्द्रिय आनन्द को समझाने की बात आई तब उन अंग्रेज अध्यापक ने ईमानदारी से यह स्वीकार किया कि उन्हें इस प्रकार के आनन्द का कोई अनुभव नहीं है अतः वे इसे समझाने में असमर्थ हैं। इसी संदर्भ में उन्होंने कहा कि—सुना है दक्षिणेश्वर में रामकृष्ण नामका कोई पुजारी रहता है वह इसका अनुभव किये है। बिना स्वानुभव के इसे समझाया नहीं जा सकता। कक्षा के सभी छात्रों ने अध्यापक की बात ध्यानसे सुनी लेकिन एक नरेन्द्रके मनमें ही जिज्ञासा जगी कि उस पुजारीसे मिलकर अतीन्द्रिय आनन्दका अनुभव प्राप्त करना चाहिए। जहाँ चाह होती है वहाँ राह स्वयं बन जाती है। एक दिन नरेन्द्र श्री रामकृष्ण के पास पहुँचकर प्रश्न करने लगे क्या ईश्वर है? उत्तर मिला 'हाँ' है। फिर उन्होंने प्रश्न किया—तुमने देखा है? जिस दृढ़ता से नरेन्द्र ने प्रश्न किया उसी दृढ़ता से उन्हें उत्तर मिला, 'हाँ मैंने इससे भी अधिक निकटता से उसे देखा है, जितनी निकटता से मैं तुम्हें देख रहा हूँ।' ऐसा उत्तर पाकर नरेन्द्र का जिज्ञासु हृदय व्याकुल हो उठा। झट प्रश्न किया मुझे—दिखा सकते हो? जहाँ खेत तैयार हो वहाँ बीज कहीं से आकर गिर ही पड़ता है और फसल उग ही आती है। गुरु स्वयं योग्य शिष्य की तलाश करता फिरता है। शिष्य को गुरु ढूँढ़नेकी जितनी इच्छा होती है उससे कई गुनी अधिक इच्छा गुरुको योग्य शिष्य की प्राप्ति की होती है। जहाँ गुरु शिष्यके मन का समानाधिकार हो जाय, वहाँ किसी अन्य साधक की अपेक्षा नहीं होती। श्री रामकृष्ण ने एक दिन शक्तिपात द्वारा नरेन्द्रको अतीन्द्रिय आनन्द की उपलब्धि करा ही दी। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

अर्थात् उस अलौकिक सुख की जिसको एक बार भी अनुभूति हो गई उसे और सुख नीरस लगते हैं। 'जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो क्यों करील रस भावे।' नरेन्द्र उस सुख के दीवाने हो गये और नरेन्द्र से विवेकानन्द बन गये।

शक्तिपात से शिष्य की कई मंजिल चढ़ाई कम जाती है। जैसे कोई संचालित बैटरी या मेगनेट हो तो अन्य लोहे या बैटरी का उससे संयोग कर देने मात्र से वह भी विद्युत-तरंगों से युक्त शक्ति-सम्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार मूलाधार में सुषुप्त कुण्डलिनी शक्ति गुरुदेव के शक्तिपात से जाग्रत होकर ब्रह्मरन्ध्र की ओर गतिशील होने लगती है। शिष्य के मल-आवरण दूर होने लगते हैं और उसमें प्रकाश एकाग्रता तथा स्थिरता आने लगती है। शनैः

शनैः सिद्धियाँ, निरुद्धावस्था और कैवल्य की उपलब्धि होती है। वायवीय संहिता में गुरु के कर्त्तव्य का निर्देश करते हुए कहा है कि जो गुरु उपदेश देना भर जानता है शक्तिपात करने में असमर्थ है, वह 'हरहि शिष्य-धन शोक न हरहीं' की उक्ति चरितार्थ करता है। सद्गुरु का कर्त्तव्य है कि वह शक्तिपात द्वारा शिष्य के अन्तःकरण की शुद्धि करे। ईश्वर की शक्ति गुरु के माध्यम से शिष्य में संचरित होकर शिष्य में शक्ति का उत्थान किया करती है।

यत्र शक्तिर्न पतिता,
तत्र शुद्धिर्न जायते।
न विद्या न शिवाचारो,
न मुक्तिर्न च सिद्धयः॥

(वायवीय संहिता अ० ११/१३)

अर्थात् शक्तिपात न होने पर शिष्य की न शुद्धि होती है, न विद्या की प्राप्ति होती है, न शास्त्रोचित आचरणयुक्त जीवन-पद्धति बनती है और न सिद्धियों की प्राप्ति तथा जन्म-मरण से मुक्ति सम्भव है। शक्तिपात द्वारा गुरु शिष्य को परख कर सकता है और यह निश्चय कर सकता है कि किस प्रकार की साधना-पद्धति उसके अनुकूल रहेगी। यदि शिष्य में शक्तिपात से आनन्द और प्रबोध नहीं होता तो उसे अष्टांग योग की क्रमिक साधना का उपदेश देता है। आनन्द और प्रबोध होने पर उसे अष्टांग योग की अंगी रूप से सारी साधनायें एक साथ करा सकता है। योग्य गुरु शिष्य की कुण्डलिनी शक्ति जगाकर उसे स्वावलम्बी कर देनेमें ही अपनी कुशलता समझता है। जब तक शिष्य में ज्ञान-स्वमेव प्रकाशित न हो तथा योग की क्रियायें स्वमेव न होने लगें तब तक गुरु का कर्त्तव्य है कि बिना पंख वाले बच्चे की तरह शिष्य की परवाह करे।

शक्तिपात करते समय गुरु योगस्थ होकर शिष्य को अपने मन की ताकत देता है जिससे उसके अन्दर और बाहर कुछ ऐसे लक्षण पैदा होने लगते हैं जिनसे शक्तिपात का ज्ञान हो सकता है। शास्त्रों के वर्णन तथा श्रीसिद्धगुफा आश्रम पर साधकों के प्रत्यक्ष दर्शन से उन लक्षणों का परिज्ञान आसानी से किया जा सकता है। श्रीमद्भागवत में यत्र-तत्र भक्ति की अनुभूति के प्रसंग में उन लक्षणों की चर्चा मिलती है। वायवीय संहिता में कहा गया है कि—

लक्षणं शक्तिपातस्य,
प्रबोधानन्द सम्भवः।
सा यस्मात् परमाशक्तिः,
प्रबोधानन्द रूपिणी॥

आनन्द बोधयोर्लिङ्गम्,
अन्तास्फुरणविक्रिया।
यथास्युः कम्परोमांच,
स्वर नेत्रादिविक्रियाः॥

शिष्योऽपि लक्षणैरेभिः,
कुर्यात् गुरुपरीक्षणम् ।
तत्सम्पर्कं शिवाचार्यो,
स्वगतैर्बोधितद्गतैः ॥

अर्थात् शक्तिपात से शिष्य में आह्लाद और ज्ञान का उद्भव होता है, क्योंकि परमात्मशक्ति आनंद रूपी प्रबोध स्वरूपिणी है, इससे शिष्य के अन्तःकरण में स्फुरण क्रिया से मन्त्र योग, लययोग, हठयोग आदि नाना प्रकार की योग क्रियायें तथा कम्प, रोमांच, स्वरवैवर्णता नेत्रों की विचित्र प्रकार की क्रियायें—जैसे पुतली ऊपर चढ़ जाना, कभी कभी अर्द्ध निमीलन कभी पातदृष्टि बहिर्व्यक्तता आदि होती है। इन सब लक्षणों से शिष्य भी गुरु की शक्तिसत्ता की परीक्षा कर उनकी सामर्थ्य का ज्ञान कर निर्भर निश्चिन्त हो सकता है। शिष्य को यह अनुभव होता है कि कोई शक्ति उसके अन्दर प्रवेश कर गई है और वह क्रीडा कर रही है। उसे विद्युत्तरङ्गों के सदृश अनुभूति होती है। सिर के बाल का कम्पन होता है, शरीर टूटने लगता है, कभी भारी हो जाता है अथवा हाथ पैर ढीले पड़ जाते हैं। मूलाधार चक्र अनाहत या आज्ञाचक्र पर भारीपन मालूम होता है। इच्छा होती है कि जी-भर कर रो लें, गायें नाचें और कूदें। आश्रम पर शक्तिपात के अनन्तर प्रायः सभी साधकों को भस्त्रा प्राणायाम अपने आप होने लगता है। प्रगाढ़ निद्रा की सी अवस्था हो जाती है, शरीर में चींटी-सी रेंगती है। मन निष्क्रिय होकर एकाग्र होने लगता है। शरीर पत्थर की तरह निश्चेष्ट होकर मूर्छावस्था या सुषुप्ति अवस्था आ जाती है। सिर में चक्कर आने लगते हैं। भाँग का सा नशा चढ़ा रहता है। शरीर में भारीपन और कभी बहुत हल्कापन आ जाता है। आह्लाद की स्थिति में कृष्ण, राधा, महामाया या अन्यान्य देवताओं की भाव मुद्रा बनती है तथा साधक नाना प्रकार की योग-क्रियायें करता है। किसी-किसी साधक को एकदम ध्यान में सिद्धों के दर्शन और नाना प्रकार के अनुभव जारी हो जाते हैं। इतना होने पर भी इस शक्ति को बनाये रखने के लिए साधक को गुरुदेव का सत्संग जल्दी-जल्दी करते रहना चाहिए। सभी साधकों में एक-सी शक्ति का संचालन नहीं होता। जैसे-जैसे गुरु में शक्ति बढ़ती जाती है, वैसे वैसे शिष्य में शक्ति का प्रकाश बढ़ने लगता है और वह विवेकख्याति की ओर बढ़ने लगता है। कभी-कभी पूर्वजन्म के पापों के कारण शक्तिपात से ये लक्षण पैदा नहीं होते, उन्हें क्रम-दीक्षा लेकर आगे चलना चाहिए।

योग की महत्ता

[श्री हीरालाल शास्त्री, फर्रुखाबाद]

भवतापेन तप्तानां,
योगो हि परमौषधम्।
आत्मज्ञानेन मुक्तिस्स्यात्
तच्च योगादृतेनहि॥

संसार में विद्वानों और महर्षियों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पदार्थ कहे हैं। इनमें सांसारिक जीवनयापन के लिए धर्म, अर्थ, काम तीन की प्रधानता है। संसारी जीव प्रारम्भ से वृद्धावस्था तक संस्कारवशात्, सत्संग, विद्यावशात् सबका अनुभव करता हुआ सूक्ष्म बुद्धि द्वारा माता, पिता, स्त्री, भाईबन्धु, पुत्र आदि सभी के व्यवहारों का अनुभव करता हुआ अन्त में संसार-बन्धन, जन्म मरण आदि से ऊबकर मोक्ष की अभिलाषा करता है। ऋषभावतार में श्री ऋषभजी ने अपने पुत्रों को लक्ष्य करके उद्बोधन किया है—

नायं देहोदेहभाजां नृलोके,
कष्टान् कामानर्हतेविड् भुजां ये।
तपोदिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्ये-
द्यस्मात् ब्रह्म सौख्यंत्वनंतम्॥

महत्सेवां द्वार माहुर्विमुक्तं,
स्तमोद्वारंयोषितां संगि-संगम्।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता,
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये॥

पराभवस्तावद बोध जातो,
यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।
यावत् क्रिया स्तावदिदं मनोवै-
कर्मात्कमं येन शरीरबन्धः॥

(श्रीमद्भागवत)

इस प्रकार ज्ञान होने पर तदनुसार साधन करने के लिए प्रेरणा दी है—

परीक्ष्यलोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो,
निर्वेद माया न्नास्त्य कृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं सगुरु मेवाभिगच्छेत्,
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

(उपनिषद्)

अर्थात् कल्याण की कामना वाले जिज्ञासु को पूर्व कथित सकाम कर्मों के फलस्वरूप सांसारिक सुखों का भलीभांति परीक्षण करके विवेकपूर्वक उनकी अनित्यता और दुःखरूपता को समझकर सब प्रकार के भोगों से विरक्त होकर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि कर्तापन के अभिमानपूर्वक सकाम भाव से

किये जाने वाले कर्म को अनित्य फल को देने वाले और स्वयं भी अनित्य है। अतः जो सर्वथा अकृत और क्रिया-साध्य नहीं है, ऐसे नित्य परमेश्वर की प्राप्ति नहीं करा सकते। यह निर्णय करके जिज्ञासु को परमात्मा का वास्तविक तत्त्व ज्ञान प्राप्त करने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रद्धा और विनय भाव के साथ ऐसे सद्गुरु की शरण में ही जाना चाहिए जो वेदोंके रहस्य को भलीभांति जानते हों और परब्रह्म परमात्मा में भली प्रकार स्थित हों और उस शिष्य की अभीष्ट याचना कर सके। गुरु का कर्तव्य—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्,
प्रशान्त चित्तायशमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं,
प्रोवाचतां तत्त्वतो ब्रह्मविद्यम् ॥

अर्थात् उन श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा को भी अपनी शरण में आये हुए ऐसे शिष्य को जिसका चित्त पूर्णतया शान्त निश्चल हो चुका है। सांसारिक भोगोंसे सर्वथा वैराग्य हो जाने के कारण जिसके चित्त में किसी प्रकार की चिन्ता, व्याकुलता या विकार नहीं रह गये हों, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब प्रकार वश में हों उस ब्रह्मविद्या का तत्त्व विवेचनपूर्वक भली-भांति समझाकर उपदेश करे, जिससे वह शिष्य अविनाशी परमेश्वर परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर सके। क्योंकि –

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष,
आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥

अतः उनको ही प्रसन्न करने और कृपा करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उनकी कृपा से—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छि-
द्यन्ते सर्व संशयः ।
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि-
तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

अर्थात् उस ज्ञान के प्राप्त होने पर हृदय की अविद्या रूपी गांठ खुल जाती है उससे इस जड़ शरीर को ही अपना स्वरूप मानने का भाव समाप्त हो जाता और सब संशय दूर हो जाते हैं समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जीव सभी बन्धनों से छूटकर परमानन्द स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है।

नान्योऽस्ति पन्था भवबन्ध मुक्तं-
विनात्मतत्त्वावगमं मुमुक्षोः ।
(श्री शंकराचार्य)

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥
(भगवान् कृष्ण)

आत्म ज्ञानेन मुक्तिः
स्यात्तच्च योगादृते नहि ।

स एव योगस्थिरं कालम-
भ्यासादेव सिद्धयति ॥

(स्कन्द पुराण)

योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम् ।
प्रसन्नं जायतेज्ञानं ज्ञानान्निर्वाण मृच्छति ।

(कूर्म पुराण)

दुःखहाराम संसार विषवेग विसूचिका ।
योगगारु मन्त्रेण पावनेनोपशाम्यति ॥

(योगवाशिष्ठ)

ज्ञानं वदन्तीह विमोक्षकारणं
तज्जायतेनैव विलोलचेतसि ।
लौल्यं न योगेन बिना प्रशाम्यति
तस्मात्तदर्थेहियतेत् साधकः ॥

अर्थात् ज्ञान मोक्ष का कारण अवश्य है पर वह चित्त चाञ्चल्य में नहीं होता है और बिना योग के चित्त की चञ्चलता दूर नहीं होती है अतः योग के लिए ही साधक को प्रयत्न करना आवश्यक है।

योगो मुख्यस्व तत्त्वेशां
श्री दर्प स्तेन शाम्यति ।

(पञ्चदशी)

अर्थात् जिन साधकों का चित्त अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों से चंचल है उनके लिए योगाभ्यास ही चित्तकी एकाग्रता के लिए आवश्यक है।

योगात् सञ्जायते ज्ञानं
योगाद्धर्मस्यलक्षणम् ।
योगः परंतपोज्ञेयस्तस्मा-
युक्तः समाचरेत् ॥

(व्यासंसंहिता)

इज्याचारदमाहिंसा तपः
स्वाध्याय कर्मणाम् ।
अयं तु परमोधर्मो
यद्योगेनात्म दर्शनम् ॥

(याज्ञवल्क्य संहिता)

यज्ञ आचार इन्द्रिय दमन, अहिंसा, तप वेदाध्ययन आदि सभी कर्मों की अपेक्षा योगाभ्यास द्वारा आत्म साक्षात्कार करना परम-धर्म है।

स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म
कुमारी स्त्री सुखं यथा ।
अयोगी नैव जानाति
जात्यन्धो हि घटं यथा ॥

(दक्षस्मृति)

अर्थात् जैसे कुमारी स्त्री पति संयोग जन्य सुख को स्वयं जानती है इसी प्रकार योगी ही ब्रह्मानन्द सुख को स्वयं अनुभव करता है और जिस प्रकार जन्मान्ध पुरुष घड़ा आदि का स्वरूप नहीं जानता है इसी प्रकार अयोगी भी वहां सुख को नहीं जान सकते।

अथ तद्दर्शनाभ्यु पायो योगः ।

ध्यान का स्वरूप और —उसकी आवश्यकताएँ

[स्व० श्री मेहरे बाबा]

मन की सीमाओं का अतिक्रमण करने के लिए व्यक्ति जो पथ निर्माण करता है, वह पथ ही ध्यान है। मान लो कि एक मनुष्य किसी सघन वन में फँस गया है और वह वहाँ से निकल कर खुले मैदान में आना चाहता है। अपने चारों ओर की जटिल झाड़ियों के बीच से जब वह बाहर निकलेगा तो वह अपने पीछे अपना पथ-चिह्न छोड़ जायगा। कोई भी दर्शक इन पथ-चिह्नों को देखकर यह जान जायगा कि वह किस मार्ग को अवलम्बन करके जंगल के बाहर निकला है। जंगल में फँसे हुए आदमी की यात्रा तथा रेलवे इन्जिन की यात्रामें फर्क है। जंगल में फँसे हुए आदमी का पूर्वनिर्मित पथ नहीं रहता। वह स्वयं अपना मार्ग तैयार करता है। किन्तु रेलगाड़ी पूर्व निर्मित रेल-पथ पर यात्रा करती है। रेलगाड़ी का रास्ता, यात्रा के पहले ही तैयार रहता है; किन्तु उस आदमी का मार्ग, उसकी यात्रा करने के पश्चात् बनता है। ठीक इसी प्रकार मन की सीमाओं के भीतर फँसे हुए आदमी का पूर्वनिश्चित पथ नहीं होता, किन्तु यात्रा के बाद वह पथ-निर्माण होता है। मन के गहन वन से निकलने के लिए जब वह गम्भीर विचार एवं ध्यान करता है, तब वह

अध्यात्म योगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति।

अर्थात् आत्मा के साक्षात्-करण में एक योग ही श्रेष्ठ उपाय है।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसासन्निवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत् विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥

(श्वेताश्वतर उपनिषद्)

अर्थात् शिर, ग्रीवा, कटि इन तीनों शारीरिक भागों को सीधा उन्नत करके शरीर को निश्चल धारण कर हृदय, इन्द्रियों को मन में नियमन करके ॐकार रूप नौका द्वारा साधक योगी पुरुष हर्ष, शोक जन्म-मरण रूप-भय आदि सभी नदियों को तर जाता है।

इसीलिए गरुड़ पुराण में यह वचन है—

भववापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम्।

अतः उपरोक्त कथन योगको ही मोक्ष का मुख्य कारण मानता है। ■

जंगल में फँसे हुए आदमी के ही समान अपनी जटिल सीमाओं को पार करने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार वह स्वयं अपना मार्ग तैयार करने की कोशिश करता है। वह किसी ऐसे पथ का अनुसरण नहीं करता, जो उसके मानस-प्रदेश में पहले से ही बनाया तैयार रहता है।

जिस मनुष्य को भूगर्भ के घनीभूत वातावरण की रचना का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त है, वह प्रायः पहलेसे यह बतला सकता है कि ज्वालामुखी किस प्रकार फूटेगा। ठीक इसी भाँति जिस मनुष्य को, व्यक्ति के मन की रचना के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष आन्तरिक ज्ञान प्राप्त है वह पहले से ही उसके ध्यान के विकास क्रम को जान सकता है। जब भूगर्भ की प्रचण्ड शक्तियाँ निकलने की चेष्टा करती हैं तो वे सबसे अधिक सुविधाजनक मार्ग ढूँढती हैं। यह मार्ग पृथ्वी की उन अन्य आभ्यन्तर परिस्थितियों पर अवलम्बित रहता है, जिनका सामना करके उन शक्तियों का विस्फोट होता है और वे बाहर उभर आती हैं। ज्वालामुखी की शक्तियों तथा आध्यात्मिक आकांक्षा की शक्तियों में भेद केवल इतना ही है कि वे अचेतन होती हैं और ये चेतन होती हैं। ध्यान में विवेक का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। सद्गुरु जब साधक को ध्यान सम्बन्धी कुछ पूर्व सूचनायें एवं संकेत देता है तो वह साधक के विवेक को जागृत करता है या उसकी चेतना को उद्दीप्त करता है।

ध्यान के सम्बन्ध में कई लोगों की भ्रान्त धारणा है। वे समझते हैं, मन को किसी वस्तु या विचार पर जबरन लगाने का नाम ध्यान है। बहुतेरे मनुष्यों में ध्यान के प्रति स्वाभाविक अरुचि या विरक्ति उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि मनको किसी खास दिशामें जबरदस्ती मोड़ने या किसी खास वस्तु पर बलपूर्वक लगाने में उन्हें कठिनाई का अनुभव होता है। मन के बलपूर्वक दमन या यन्त्र-तुल्य नियन्त्रण का क्लेशदायक होनेके साथ ही असफल होना अवश्यम्भावी है।

अतः साधकों को यह प्रथम सिद्धान्त स्मरण रखना चाहिए कि मन की रचना के जो आंतरिक नियम हैं, उन्हीं नियमों के अनुसार मन का नियमन किया जा सकता है तथा उसे ध्यान में लगाया जा सकता है। और जबरदस्ती के साथ बलपूर्वक मन का यन्त्र-तुल्य नियन्त्रण करना क्लेशदायक होने के साथ ही असम्भव है।

बहुत से लोग ध्यान विधि के अनुसार तथा कथित ध्यान यद्यपि नहीं करते, तो भी वे बहुधा किसी व्यावहारिक समस्या या सैद्धान्तिक विषय के व्यवस्थित एवं स्पष्ट चिंतन में गम्भीरतापूर्वक अनन्य भावसे निमग्न रहते हैं। ऐसे लोगों की मानसिक क्रिया, एक

प्रकार से, ध्यान करने में ही लगी रहती है, क्योंकि अन्य समस्त वस्तुओं का पूर्ण विस्मरण एवं किसी खास विषय का अनन्यमनस्क चिंतन या तीव्र स्मरण ही ध्यान है। जिन विषयों में रुचि रहती है तथा जो बातें अधिकाधिक समझ में आती हैं, उन विषयों में मन सहज ही लग जाता है एवं उन बातों का ध्यान करना स्वाभाविक होता है किन्तु ऐसे सामान्य मनन चिन्तन तथा ध्यान के सम्बन्ध में दुःखद बात यह है, कि सार विषयों तथा आध्यात्मिक सत्य की बातों पर मन नहीं लगाया जाता। ध्यान के विषय को सावधानी के साथ चुनने की आवश्यकता है। यह विषय आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होना चाहिए। ध्यान का विषय, या तो दैवी व्यक्ति, या दिव्य विषय होना चाहिए, या कोई महत्वपूर्ण आध्यात्मिक तथ्य या सत्य। आध्यात्मिक तथ्यों और सत्यों में दिलचस्पी रखने से ही ध्यान में सफलता की प्राप्ति नहीं होगी, किन्तु उनको समझने एवं उनके स्वरूप को ग्रहण करने की कोशिश करने से ही ध्यानमें सफलता प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार का विवेक मूलक ध्यान मनकी एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। आध्यात्मिक तथ्यों और तत्वों में रस लेना और उनको समझने एवं उनके स्वरूप को हृदयंगम करने से न तो मन पर और जबरदस्ती करनी पड़ती और न कठोरतापूर्वक मन पर बलात्कार ही किया जाता है। सहज और सरस ध्यान आनन्ददायक तथा अन्य तुल्य ध्यान क्लेशकारक होता है। रुचि के साथ विवेकपूर्वक जो चिन्तन किया जाता है वह सहज और स्फूर्तिदायक ही नहीं होता किन्तु सरस तथा सफल भी होता है।

चिन्तन स्वरूप ध्यान एकाग्रता से भिन्न है। चिन्तन प्राथमिक स्थिति है। चिन्तन क्रमशः विकसित होकर, एकाग्रता का रूप धारण कर लेता है। अन्य प्रत्येक वस्तुओं को भूलकर, किसी विशिष्ट वस्तु का चिन्तन, ध्यान है। विशिष्ट वस्तु का अनन्य मन से, चिन्तन करने पर, मन का उस वस्तु से एकाकार या युक्त हो जाना, एकाग्रता है। एकाग्रता में, मन स्थिर हो जाता है किन्तु चिन्तनयुक्त ध्यान में एक प्रस्तुत विषय के बीच में, मन चलायमान होता रहता है। एकाग्रता में, मन किसी एक रूप, या किसी संक्षिप्त सारगर्भित सूत्र पर, केन्द्रित हो जाता है। एकाग्रता में, मन दिव्य विषय का विस्तृत वर्णन नहीं करता, किन्तु ध्यान में मन उस रूप, या उस सूत्रके विभिन्न गुणों, एवं विभिन्न अर्थों का चिन्तन करके, उन्हें समझने तथा हृदयंगम करने का प्रयत्न करता है। किन्तु ध्यान तथा एकाग्रता दोनों में दिव्य दिव्य विषय, या सिद्धान्त के प्रति प्रेम, और उत्कंठा का शांतिमय मिश्रण होता रहता है। यन्त्रतुल्य मानसिक क्रिया में कठोर नियम-बन्धन, तथा नीरस एवं अरुचिजनक दमन के द्वारा, मन नियंत्रण किया जाता है।

बाह्य नियम बन्धनों के द्वारा, तथा कठोर विधि—निषेधों के द्वारा, मन पर बलपूर्वक शासन यंत्रवत् किया है।

जो लोग एकदम तीव्र एकाग्रता प्राप्त नहीं कर सकते, उन्हें शुरू-शुरू में चिन्तनयुक्त ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। जो चित्त को एकदम एकाग्र कर सकते हैं, उनके लिए चिन्तन अनावश्यक है। उनके लिए परमात्म—पुरुष के रूप पर, या "मैं न तो स्थूल शरीर हूँ, न सूक्ष्म शरीर हूँ [सूक्ष्म शरीर तृष्णाओं तथा प्राण शक्तियों का निवास स्थान है और मानसिक शरीर (कारण शरीर) मन का निवास स्थान है] किन्तु मैं आत्मा हूँ" जैसे किसी संक्षिप्त सूत्र पर चित्तको एकाग्र करना पर्याप्त है।

ध्यान वस्तुतः एक व्यक्तिगत विषय है, क्योंकि समाज में आत्मप्रदर्शन करने के लिए ध्यान नहीं किया जाता, किन्तु अपनी निजी आध्यात्मिक उन्नति के लिए, ही ध्यान किया जाता है। सामाजिक वातावरण से, व्यक्ति के पूर्णतः अलग हो जाने से, ध्यान, बिना किसी विघ्न, या बाधा के सम्पन्न होता है। निर्जनता की खोज में, प्राचीन योगी पर्वतों और गुफाओं में चले जाया करते थे। ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिए शान्त तथा एकांत वातावरण नितान्त आवश्यक है। और, पर्वतों तथा गुफाओं में, ऐसी निर्जन शान्ति आसानी से प्राप्त हो जाती है। तथापि निर्जनता एवं सूनापन खोजने के लिए पर्वतों और गुफाओं में ही जाना जरूरी नहीं है। जरासा कष्ट करने पर तथा सावधानी रखने से साधकों को शहरों में भी मौन एकान्त तथा सूनापन की प्राप्ति हो सकती है। मौन, एकान्त तथा शान्त वातावरण के बिना विभिन्न प्रकार के ध्यान में उन्नति नहीं की जा सकती।

ध्यान के लिए अन्धकार का होना, या आंखों का मूंदना अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। साधक के सम्मुख ध्यान के विषय के उपस्थित रहने पर, आंखें खुली रख कर भी वह सफलतापूर्वक ध्यान कर सकता है। किन्तु कई लोगों के लिए सभी प्रकार के स्थूल दृश्यों से दूर हो जाना, तीव्र ध्यान के लिए, उतना ही लाभदायक है, जिस प्रकार सभी किस्म के शोर-गुल या आवाजसे दूर हो जाना। वातावरण की पूर्ण शान्ति प्राप्त करने के लिए, ध्यान को उपयुक्त स्थान, सावधानी के साथ चुनना चाहिए। किन्तु, दृश्यों के उपद्रव से, मन को प्रभावित न होने देने के लिए, केवल आंखों को मूंद लेना पर्याप्त है। कभी-कभी प्रकाश के रहने से, दृष्टि पर प्रकाश का प्रभाव पड़ता है। प्रकाश के द्वारा, आंखों पर पड़ने वाली उत्तेजना को दूर करने के लिए, बिल्कुल अन्धकार में ध्यान करना आवश्यक है। अंधकार में ध्यान करने से, ध्यानमें उन्नति करना सरल हो जाता है।

क्रमशः

उपयुक्त आसन ध्यान में सहायक होता है, किन्तु आसन के लिए, कोई निश्चित नियम नहीं है। आरोग्य की दृष्टि से, जो आसन आपत्ति रहित है, तथा जो आसन आराम-दायक है, वही आसन ग्रहण करना चाहिए। उस आसन का आश्रय नहीं चाहिए, जिससे नींद लगने की सम्भावना हो। जिस आसन से मन जागरूक रहे, वह आसन सर्व श्रेष्ठ है। ऐसा आसन ग्रहण करना ठीक नहीं है, जिससे शारीरिक कष्ट या परिश्रम का अनुभव हो, क्योंकि वैसा करने से, मन का ध्यान शरीर की ओर खिंचेगा। नींद लेते समय, जिस प्रकार शरीर को आराम दे दिया जाता है, उसी प्रकार, ध्यान के समय भी, शरीर को आराम पूर्ण तथा कष्ट रहित आसनमें रखना चाहिए। किन्तु सोने का सामान्य आसन, ध्यान के लिए ठीक नहीं है, क्योंकि उस आसन में नींद आने की सम्भावना है। ज्योंही शरीर सुविधाजनक एवं उपयुक्त आसन ग्रहण करले, त्योंही सिर पर तुरन्त ध्यान फेरना चाहिए। सिर को शरीर का केन्द्र स्थल समझना चाहिए। सिर को केन्द्र मानने से, शरीर को भूलना, तथा शरीर से मन को खींच कर उसे ध्यानके विषय पर लगाना आसान हो जाता है।

साधक को चाहिए कि वह प्रत्येक ध्यान में वही आसन ग्रहण करे, जो आसन एक बार अपना लिया है। जिस आसन में, एक बार ध्यान किया जाता है, उस आसन का पहले के ध्यान से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वही आसन ग्रहण करने से, पहले जैसा ध्यान करने का विशेष प्रोत्साहन प्राप्त होता है। जब शरीर, पहले का चुना हुआ आसन ग्रहण करता है, तब उपचेतन मन को यह संकेत प्राप्त करने में सुविधा मिलती है, कि उसे अब पूर्ववत ध्यान में लगना है। एक ही आसन ग्रहण करना, उस आसन से सम्बद्ध ध्यान का सहज आह्वान करना है। ताकि आसन ग्रहण करते ही, मन, ध्यान के लिए, सहज ही सन्नद्ध हो जाता है। एक ही आसन चुनना, जिस प्रकार लाभदायक होता है, उसी प्रकार, एक स्थान तथा एक समय निश्चित कर लेना भी अत्यन्त लाभदायक होता है। आसन, स्थान, तथा समय का पहले किये गये ध्यान से संसर्ग रहता है। और, उसी आसन, स्थान, तथा समय को अपनाने से, ध्यान तुरन्त सधता है। अतएव, ध्यान करने के लिए, एक ही आसन, एक ही स्थान तथा एक ही समय निश्चित करने में, साधक का विशेष आग्रह रहना चाहिए। जिस स्थान, तथा जिस भूमि में, सद्गुरु ने ध्यान या निवास किया हो, उस स्थान तथा उसी भूमि में, ध्यान करना विशेष लाभदायक होता है, क्योंकि ऐसे स्थान, तथा ऐसी भूमि का गूढ़ संसर्गों तथा गूढ़ संभाव्यताओं से पूर्व सम्बन्ध रहता है।

आदमी तर्क का घरौंदा है

[श्री राघवेन्द्र तिवारी]

रोज सुबह हम
अध्यात्म की पुस्तक से
एक पन्ना पढ़ लेते हैं
साकार और भौतिक
सभ्यता में—
चौबीस घण्टे जी लेते हैं
यह वह अकाट्य क्रम है
जो जीव और ब्रह्म का
शाश्वत भ्रम है
हम अजन्मे ही जन्म जैसी—
क्रियायें
स्वप्न में तय करते हैं
और जाग्रति के प्रकाश में
जी लेते हैं अपना क्षोभ
आदमी चारों युगों की
शाश्वत अनुभूति है
जिसके संवरण में
उप-निषद बना कर्म
ग्रहों की स्थिति सा
चमकता है
और सौर-मंडल के
परिवर्तन सा वेदान्त
मानवी परिस्थितियों से
समझौता नहीं करने देता,

यह आज का उत्तर है
हम चाहते हैं, कि—
नैराश्य में
प्रभु प्राप्ति की अपेक्षा हो
किन्तु यह हमारा चिन्तन
जब तक सफल हो—
हम आदमी नहीं होते
प्रभु मेरे ये प्रश्न निश्चित ही
वह प्रतिक्रिया हैं
जिनकी वस्तु स्थितियां
सामान्य से विपरीत
माध्यम खोजती हैं
और निरन्तर उसकी ओर
अग्रसर होना चाहती हैं
जहाँ आदि मन्त्र की स्थापना
अपने औदार्य में
दम तोड़ रही
आदमियत को
स्थायित्व देना चाहती है
कि, आदमी !
किसी तर्क का घरौंदा है
और भगवान,
इसका—कुशल
शिल्पकार ।

त्याग और वैराग्य का भेद

[योगतीर्थ श्री सियाराम जी महाराज के विचार]

किसी भी पदार्थ को त्यागा जाता है निश्चित रूप से उसे दुःखदायी समझकर या उसमें सुख से अधिक दुःख की मात्रा देखकर अथवा सुख का सर्वथा अभाव हो तब। यह आंशिक-त्याग अधकचरे-ज्ञान के आधार पर हुआ करता है, जिसमें पदार्थों तथा विषयों में पुनरासक्ति या पतन की प्रायः सम्भावना बनी रहती है। इतना ही नहीं, अपितु यह सामयिक त्याग पतन का कारण बन ही जाता है, तभी तो मनुष्य किसी त्यक्त-पदार्थ को पुनः आ पकड़ता है, जैसे—ज्वर-पीड़ा, अपच आदि में परित्यक्त पक्वान्न-मिष्टान्न आदि गरिष्ठ-आहार को पीड़ा आदि के हटते ही तुरन्त पुनः खाने लगता है—अथवा मुख में छाले पड़ जाने पर रोक दिए गये चटपटे पदार्थों को स्वस्थ होते ही पुनः सेवन करने लगता है। इस प्रकार किसी भी समुपस्थित कारणवश अथवा पठित-श्रुत-प्रेरणा-वश किसी पदार्थ से सामयिक निवृत्ति पा लेना 'त्याग' कहा जाता है। परन्तु लगातार की जाती विचार-परम्परा तथा स्व-कष्टानुभूति के आधार पर प्राप्त हो जाने वाले 'यथार्थ-बोध' द्वारा पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ त्याग 'वैराग्य' का रूप धारण कर लेता है, 'वैराग्य' तो ज्ञानकी पराकाष्ठा का परिणाम होता है और 'त्याग' अर्धज्ञान का परिणाम। जो कष्टानुभूति हमें पूर्व हो चुकी है—इस समय पदे-पदे हो रही है और भविष्य में भी होगी, उस पर ध्यान देते हुए 'परिशुद्ध-स्मृति' के आधार पर होने वाला ज्ञान 'यथार्थ-बोध' है, जैसे—चमचमाते सुन्दर लगते अङ्गारों को भ्रमवश सुख-बुद्धि से पकड़ लेने वाला शिशु एक बार हाथ जल जाने पर पुनः आजीवन स्वप्न तक में अङ्गारों के स्पर्श तक से भय खाता रहेगा—भय खाता रहता है, यह जान जाता है कि—अग्नि में डाला हाथ इस समय भी जला है—यह प्रत्यक्ष है, भविष्यमें भी जलेगा ही—यह अनुमान है। ऐसी यथार्थ अनुभूति—'बोध' हो जाने के पश्चात् मनुष्य कभी उस ओर अभिमुख नहीं होता—नहीं होगा—स्वप्न तक में भी। यही भेद है त्याग और परमवैराग्य में। 'अर्धज्ञान' सामयिक त्याग तो करा देता है, उससे कुछ काल के लिए दुःख टल भी जाता है, परन्तु उस विषय में बना सुख-राग पुनः उस पदार्थ

को ग्रहण करने की प्रेरणा करता रहता है, 'परिशुद्ध-स्मृति' के अभाव में मनुष्य सुख की भ्रान्ति से उसे छोड़ता पकड़ता हुआ काल-परम्परा से मुक्त नहीं हो पाता, परन्तु तर्क विचार-अनुभूति के आधार पर परित्यक्त पदार्थ अथवा किसी विषय की ओर पुनः प्रवृत्ति होती ही नहीं। 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'—योग २-१५ सूत्रोक्त सत्य की परख 'प्रत्यक्ष-अनुभव' से होती है। [सिद्धान्ततः सृष्टि में किसी पदार्थ का त्रिकाल में भी अत्यन्ताभाव होता ही नहीं, सांख्य-दर्शन १-१५८ सूत्र का प्रमाण देकर उसका यह मत हम पिछले पृष्ठ की टिप्पणी में व्यक्त कर आये हैं] उक्त सांख्य सिद्धान्त के आधार पर सुख का नितान्त-अभाव नहीं है, उन विषयों तथा पदार्थों में विद्यमान क्षीण-सुखांश भी 'सत्त्वगुण' की विद्यमानता से है, और यह रजस्-तमस से उत्पन्न कष्ट से आक्रान्त या मिश्रित होकर इतना विकृत हो गया होता है कि 'ग्राह्य' होने के स्थान पर 'हेय'-पक्ष में आ पड़ता है, जैसे क्षार या लवण की अत्यधिकता के कारण समुद्रों की विपुल जल-राशि में छिपा क्षीण-मिठास भी 'हेय-पक्ष' में जाकर सर्वथा अग्राह्य ही हो गया है। यह स्पष्ट है कि पंच-भौतिक पदार्थों में गुणों के तारतम्य से 'सद्रूप-सुख'—अर्थात् 'आत्मानन्द' का लेश भी नहीं है, अतः 'सांसारिक ज्ञान वैभव विषय-कर्म आदि' सुख-रहित होने से, प्राप्ति-सेवन-संरक्षण तथा वियोग द्वारा सदा दुःख ही उत्पन्न करते हैं। वैसे तो सभी विषय तथा पदार्थ समान रूपसे दुःखदाई हैं, परन्तु उन में 'सूक्ष्म-भूत'-पंचतन्मात्राकृत न्यूनता-अधिकता के प्रभावसे कोई पदार्थ तथा विषय स्व-स्वभाव—अपनी सात्त्विक आदि प्रकृति के अनुसार किसी को अधिक प्रिय लगता है किसी को कम।

❀ वैराग्य की आवश्यकता ❀

संसार दुःखके से छूटने के लिए वैराग्य की बड़ी आवश्यकता है। 'हमने क्या त्याग किया है, दुःख से तो पशु पक्षी भी भागते हैं, मच्छरों से भरे स्थान से गाय-भैंस भी भाग जाती है, यदि हमने भी दुःखरूप समझ कर संसार को त्याग दिया तो इसमें क्या वीरता हुई'? 'वैराग्य उत्पन्न करो और उसे बढ़ाओ, वस्तु के थोड़े-बहुत लाभ को देखने से संसार में राग बढ़ रहा है, अब 'दोष दर्शन' से ही राग छूटेगा। 'वैराग्य' ही सबसे मुख्य है, इसके बिना कुछ नहीं बन सकता।' 'पूर्ण वैराग्य से ही परमशान्ति मिल सकती है, भजन का राग भी छोड़ना होगा, जब तक नहीं छूटता, इसके निमित्त भी दीन बन कर दुःख सहते रहो।' विषय-वासनाओं को समूल नष्ट कर देना [परम-वैराग्य प्राप्त कर लेना] ही परम-आवश्यक है, शेष सभी झगड़े आप ही मिट जाते हैं।' वैराग्य सब उपायों से बढ़-कर है और कल्याण करने वाला है, अतः वैराग्य-वृद्धि करो।'

पूर्व प्रकाशित से आगे—

चेतस् मन

[श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज]

प्रज्ञान-मन के प्रकरण में हमने बुद्धि का वर्णन किया है। इस प्रकरण में "चेतस्" का वर्णन किया जायेगा। चेतस् को दार्शनिक परिभाषा में "चित्त" कहते हैं। चित्त अन्तः-करण का वह भाग है जिस पर दैव मन के क्षेत्र में हुए अनुभवों और यज्ञमन के क्षेत्र में होने वाले कर्मों के संस्कार अङ्कित रहते हैं।

हम पहले लिख आये हैं कि अनुभव के बाद चित्त पर पड़े हुए संस्कारों का परीक्षण बुद्धि के द्वारा होता है। बुद्धि कभी मनन के रूप में और कभी निदिध्यासन के रूप में इन अनुभवों पर प्रकाश डाला करती है जिससे कि ये संस्कार परिपक्व हो जाते हैं। और जब कि बुद्धि के बहुत से कार्य क्रम का चित्त के साथ सम्बन्ध है तो चित्त का स्थान भी बुद्धि के साथ ही मस्तिष्क में होना चाहिए।

हमें पुराने अनुभवों का स्मरण चित्त पर पड़े हुए संस्कारों के आधार पर ही हुआ करता है। और स्मरण करते समय सर्वदा मस्तिष्क में फैले हुए ज्ञान-तन्तुओं से ही काम लिया करते हैं, इसीलिए इस हेतु से भी चित्त का स्थान मस्तिष्क में ही होना चाहिए।

ज्ञानेन्द्रियों के सब अनुभव संस्कार के रूप में चित्त पर अंकित होते हैं और ज्ञान-इन्द्रिय सब सिर के साथ लगे हुए हैं, इसलिए चित्त का स्थान भी वहां ही होना चाहिये।

चित्त की व्याख्या रूप में इस तीसरे मन्त्र में यह वाक्य आया है, "अमृतं प्रजासु" (उत्पन्न होने वाली वृत्तियों में अमर)। तात्पर्य यह है कि चित्त में अनेक वृत्तियाँ अथवा ज्ञान उत्पन्न हो होकर नष्ट होते रहते हैं। उनके नष्ट होने पर भी चित्त में उनका कुछ प्रभाव शेष रह जाता है, जिसे वासना या संस्कार कहते हैं। उन वृत्तियों की भांति ये संस्कार नष्ट नहीं होते, ये जन्म-जन्मान्तर में भी चित्त का ही अंग बने रहते हैं यदि विरोधी भावनाओं से आत्मा इनके उखाड़ने का यत्न न करे। और यह ही कारण है कि इन्हें यहाँ अमर कहा है। अतः संस्कारों को अमर कहते हुए वहां चित्त को ही अमर कह दिया गया है यद्यपि ये संस्कार भी प्रयत्न से नष्ट किये जा सकते हैं, इसलिए सदा रहने वाले नहीं हैं, तथापि इनकी जननी वृत्तियों की अपेक्षा तो ये अमर हैं ही। क्योंकि वृत्तियाँ दो क्षण रह कर नष्ट हो जाती

है, और जन्मान्तरों में भी रहती है। और इसी-लिए इन्हें यहां अमर नाम दिया गया है।

अन्तःकरण का यह भाग प्रभु के इस विचित्र जगत् में अनोखी रचना है। हम इसे एक ऐसे कुएँ की उपमा दे सकते हैं जिसका जल अथाह है, और जिसमें अनेक छोटे बड़े जन्तु निवास करते हैं इस जल में किस-किस स्थान पर कौन-कौन से और कितने जन्तु हैं, हम इसका कुछ पता नहीं लगा सकते। किसी समय कोई जन्तु अचानक ही पानी के ऊपर आ जाता है तो हम उसे देख सका करते हैं, अन्यथा नहीं।

ठीक इसी प्रकार हमारे चित्त की गम्भीरता का भी कोई अन्त नहीं। जन्म-जन्मान्तर के और इस जन्म के भी अनुभवों के संस्कार इसमें किस-किस स्थान पर पड़े हुए हैं, इसका हमें कोई ज्ञान नहीं। जब कोई संस्कार ऊपर आकर स्मृति के रूप में प्रकट हो जाया करता है तब ही हम उसे जान सका करते हैं। गोता लगाने वाले लोग गहरे पानी में गोता लगा कर अपने काम का जन्तु निकाल लाते हैं। और इसी प्रकार किसी संस्कार को जगाने की इच्छा करने वाले लोग चित्त के गहरे पानी में ध्यान का गोता लगा अपने अभीष्ट संस्कार को जगाने में समर्थ हो जाते हैं।

चित्त की आश्चर्यजनक रचना की ओर ध्यान दीजिये कि कोई संस्कार दूसरे संस्कार से न मिलने पाता है, और न एक दूसरे को दबा सकता है। जिसे निकालने की इच्छा करो वह अलग-अलग अकेला ही निकल आता है, और हमें यत्न करने पर भी यह पता नहीं चलता कि यह चित्त के किस पटल से आया है। आत्मा को कुछ पता नहीं था कि वह संस्कार कहां है, उसने केवल उसके पाने की इच्छा से ध्यान लगाया और वह ऊपर आ गया। ध्यान की किस आंख ने उसे देखा और उसका कौन सा हाथ इसे पकड़ कर ऊपर ले आया इसका कुछ पता नहीं।

कई बार लम्बा ध्यान लगाने पर भी हम अपने अभीष्ट संस्कार को नहीं पा सका करते। बार-बार माथा टटोलने पर भी उसकी स्मृति नहीं हुआ करती। इसमें कारण है अनुभव के काल में की गई हमारी अपनी उपेक्षा। हमने अनुभव के समय उसके संस्कार को सावधान हो, स्वयं सम्भाल कर चित्त में रखने की चेष्टा नहीं की। वह हमारी उपेक्षा के कारण हमारे अज्ञान में ही चित्त के किसी कोने में जा बैठा है। और जब बात ऐसी है तो हमारा ध्यान उसे खोज कर निकालेगा भी तो कहां से ? वस्तुतः ऐसे ही लोगों की स्मरण-शक्ति निर्बल हो जाया करती है जो अनुभव के काल में उपेक्षा रखते हैं अवधान से काम नहीं लिया करते। हमें अपने अनुभव को चित्त के अर्पण

करते समय उसे यह कह देना चाहिए कि "मैं अपनी यह वस्तु तुम्हें दे रहा हूँ, इसे संभाल कर रखना।" चित्त निश्चय ही उसे संभाल कर रखेगा, और यथा समय मांगने पर हमें दे देगा।

संस्कार को और अधिक प्रबल तथा शीघ्र जगने योग्य बनाने के लिए हम उसे चित्त के अर्पण करते समय किसी प्रसिद्ध संस्कार को साक्षी के रूप में साथ दे सकते हैं। जैसे कि हम अपने चित्त को सुरक्षित रखने के लिए भ्रमर का संस्कार दे रहे हैं। भ्रमर को हमने अब पहली बार ही देखा है। इससे पहले हमने कमल के फूल को बाजार में बिकते हुए कई बार देखा है और उसे भली भांति जानते हैं। यह प्रसिद्धि भी हमने कई बार सुनी है कि भ्रमर कमल के फूल पर बैठा करता है। अब हम भ्रमर को चित्त के अर्पण करते समय कमल का फूल भी सामने खड़ा कर देंगे। स्मरण करते समय भ्रमर याद न भी आया तो कमल के फूल को याद कर लेना हमारे लिये कठिन न होगा। और इसके बाद तत्काल ही उसके साक्षी भ्रमर का याद आ जाना सर्वथा सम्भव है।

यह हमने एक दृष्टान्त दिया है। हमारे इस निर्देश का तात्पर्य यह है कि संस्कार को इस योग्य बनाने के लिए, कि हमें उससे स्मृति की इच्छा होते ही, वह चित्त के चाहे किसी भी पटल में हो, तत्काल प्रकट हो सके, तो जहाँ हमें इस बात की आवश्यकता है कि आत्मा जानके समय उसके ऊपर अपनी इच्छा शक्ति का पूरा प्रभाव डाल रहा हो, और वहाँ यह आवश्यक है कि दैवमन के अवधान के प्रकाश में हम बार-बार भली भांति मनन की रीति से उसका परीक्षण करलें, इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि हम उसका नाता, चित्त में पहले से ही सम्भाल कर रखे हुए किसी प्रसिद्ध संस्कार के साथ जोड़ लें।

विद्यार्थी महोदय भली भांति जानते होंगे कि वे जब कोई पुस्तक आदि से अन्त तक पढ़ जाया करते हैं, और बार-बार उसका मनन कर उसे स्मरण करने का यत्न किया करते हैं, तो उस पुस्तक के विषयों का अनुभव उन्हें जिस क्रम से हुआ है, और जिस क्रम से उसके संस्कार चित्त में सम्भाल कर रखे गये हैं, उसी क्रम से उन संस्कारों की लड़ी की लड़ी उनके चित्त रूपी दूध पर मक्खन की भांति तैरने लग जाती है, और उन्हें उस सारे ही पुस्तक का स्मरण सहसा हो जाया करता है।

इसी प्रकार जब कोई वक्ता किसी विषय पर भाषण देने लगता है तो उससे प्रथम वह अपने भाषण के कुछ शीर्षक अपने चित्तमें क्रम से सम्भाल कर रख लेता है, और फिर बोलते समय उसके बिना ढूंढे ही एक के बाद दूसरा शीर्षक अपने आप उसके सामने बिना कठिनाई के आता चला जाता है।

ठीक इसी प्रकार किन्हीं पुराने प्रसिद्ध संस्कारों की माला में पिरोये गये किसी नवीन अप्रसिद्ध संस्कार का भी उनके सहयोग से स्मरण हो आना सरल हो जाया करता है।

महर्षि कणाद ने लिखा है कि:—

आत्ममनसोः संयोगविशेषात्संस्काराच्च स्मृतिः।

(वैशेषिक अ. ९, आ. २, सू. ६)

आत्मा और मन के विशेष संयोग से और संस्कार से स्मरण होता है।

यहाँ 'मन' शब्द चित्त के अर्थों में आया है, यहाँ स्मरण के लिए कारण रूपसे जहाँ संस्कार का नाम लिया गया है, उसके साथ ही आत्मा और मन के संयोग को भी स्मृति का कारण माना गया है। परन्तु आत्मा और मन का साधारण संयोग स्मृति को उत्पन्न नहीं कर सकता, अतः यहां विशेष संयोग को स्मृति का कारण कहा है। संयोग की विशेषता यह ही है कि चित्त का वह प्रदेश आत्मा के सामने आवे जिसमें स्मरण का उपयोगी संस्कार पड़ा हुआ है। और यह तब ही हो सकता है कि जब आत्मा ने अपनी इच्छा-शक्ति के बल से अवधान के द्वारा प्रत्यक्ष के समय उसे चित्त के किसी कोने में सम्भाल कर स्थिर किया होगा।

हमने चित्त का निवास स्थान मस्तिष्क बतलाया है, इसका यह अर्थ नहीं कि चित्त एक छोटे से बिन्दु के समान कोई पदार्थ है और मस्तिष्क के एक कोने में रहता है। इस इतने छोटे से पदार्थ में जन्म-जन्मान्तर के तथा इस जन्म के सहस्रों संस्कारों का समा जाना और पृथक् रूप से स्थिर रहना कैसे सम्भव है। अनुभवों के बार-बार होने वाले आन्दोलन और उनके प्रभाव एक छोटे से स्थान पर पड़े हुये पहिले प्रभावों को स्थिर और अविरल कैसे रहने देंगे। अतः यह मानना पड़ेगा कि चित्त एक ऐसा विशाल भण्डार है, जिसमें संस्कारों की विशाल सामग्री अविरल रूप से स्थान-स्थान पर रखी हुई है। और इसीलिए हमने इसे एक गम्भीर कुए की उपमा दी है।

चित्त के भण्डार का हमारे सारे शरीर से और उसके बाहर के आकाश मण्डल से भी सम्बन्ध होना चाहिए। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब हम किसी दूसरे नगर की किसी वस्तु को जिसे कि हमने पहले कभी उसी नगरमें देखा था, याद करना चाहा करते हैं, तो उस नगर का सारा का सारा चित्र हमारे मन के सामने आ जाया करता है, और हम इसे उसी स्थान पर देख रहे होते हैं जहां कि वह नगर बसा हुआ है, और तब हमें वह वस्तु जिसे कि हम याद करना चाहा करते हैं, याद आ जाया करती है स्मरण की यह प्रक्रिया हमारे चित्त के बाह्य सम्बन्ध को प्रकट कर रही है। क्रमशः

भजन भेद है न्यारा

[महात्मा श्री कबीरदास जी]

(१)

साधो भजन भेद है न्यारा ।
का माला मुद्रा के पहिरे चन्दन घँसे लिलारा ।
मूड़ मुँड़ाये जटा रखाये अङ्ग लगाये छारा ॥
का पानी पाहन के पूजे कन्दमूल फलहारा ।
कहा नेम तीरथ व्रत कीन्हे, जो नहिं तत्त्व विचारा ॥
का गाये का पढ़ि दिखलाये का भरमे संसारा ।
का सन्ध्या तरपन के कीन्हे का षट करम अचारा ॥
जैसे बधिक ओट टाटी के हाथ लिये विख चारा ।
ज्यों बक-ध्यान धरै घट भीतर अपने अंग विकारा ॥
दै परचै स्वामी होइ बैठे करैं विषय व्यवहारा ।
ज्ञान ध्यान को मरम न जानैं बाद करैं निःकारा ॥
फूँके कान कुमति अपने से बोझ लिए सिर भारा ।
बिन सतगुरु गुरु केतिक बहिगे लोभ लहर की धारा ॥
गहिर गंभीर पार नहिं पावै खण्ड अखण्ड से न्यारा ।
दृष्टि अपार चलन को सहजै कटै भरम के जारा ॥

(२)

जिनके नाम ना है हिये ।
क्या होवै गल माला डोले कहा सुमिरनी लीये ॥
क्या होवै पुस्तक के बाँचे कहा संख धुनि कीये ।
क्या होवै कासी में बसि के क्या गंगाजल पीये ॥
होवै कहा बरत के राखे कहा तिलक सिर दीये ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो आवा है जम लीये ॥

सिद्धयोग ही क्यों ?

[श्री कृष्णानन्द गुप्त]

मनुष्य मात्र सुख की खोज में लगा हुआ है परन्तु सुख है कहां ! जगदात्मा श्रीकृष्ण गीता में कहते है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा
दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय
न तेषु रमते बुधः ॥

(गीता ५/२२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग है, वे यद्यपि विषयी पुरुषों को सुख रूप भासते है, तो भी दुःख के ही हेतु है और आदि-अन्त वाले अर्थात् अनित्य है। इसलिए हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

योगदर्शन में कहा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति
विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।

(साधनपाद १५)

'परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख— आदि अनेकों दुःखों से मिश्रित होने तथा सात्विक, राजस, तामस वृत्तियों में विरोध होने से भी विवेकी पुरुषों की दृष्टि में सम्पूर्ण विषय-सुख दुःखरूप ही है ।'

यदि कोई मनुष्य अज्ञानवश इस विषय-सुख को सुख भी माने तो विचार करने पर मालूम हो जायगा कि यह सुख कितना अस्थिर है। देश, काल, और वस्तु से परिच्छिन्न होने के कारण यह सर्वथा क्षणभंगुर, विनाशशील और अत्यन्त अल्प ही है।

इसीलिए तो नचिकेता ने यमराज के अनेक प्रलोभन देने पर भी उनसे यही कहा—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्-
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव ।
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥

(कठोपनिषद् १/१/२६)

'हे यमराज ! ये समस्त भोग 'कल रहेंगे या नहीं' इस प्रकार के संदेह युक्त एवं सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को जीर्ण करने वाले है। यही क्या, यह सारा जीवन भी बहुत थोड़ा ही है। इसलिए ये आपके वाहन और नाच गान आपके पास ही रहें, मुझे इनकी आवश्यकता नहीं है।' यह तो इस जीवन-काल में इन भोगोंसे मिलने

वाले सुख की बात है। मरने के बाद तो इनमें से कोई भी पदार्थ किसी भी हालत में रंचमात्र भी किसी के साथ जा ही नहीं सकता। कवि ने कहा है—

चेतो हरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः,
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः,
सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति॥

'जिनके अत्यन्त मनोहारिणी स्त्रियां हैं, अनुकूल मित्र हैं, बड़े ही सुयोग्य बन्धु-बान्धव हैं और प्रेम भरी मीठी वाणी बोलने वाले सेवक गण हैं और तीव्र वेग वाले घोड़े हिन-हिना रहे हैं, ऐसे पुरुष की भी जब आंखें मुंद जाती हैं तो न तो कोई भी उसका अपना ही रह जाता है और न कोई भी वस्तु उस समय उसके काम आ सकती है।' तात्पर्य यह कि इन भौतिक विषयों में सुख नहीं है, सुख तो अपने मन को बाह्य-जगत से हटाकर अन्तर जगत में लगाने से ही प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि यह कहा है—

'मनो निवृत्तिः परमोपशान्तिः।'

(काशी पञ्चक० १)

'मन की निवृत्ति हो जाने पर परमशान्ति होती है।' बन्धन और मोक्ष का कारण एक मात्र मन ही है—

मन एव मनुष्याणां
कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धनं विषयासक्तं
मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

(त्रिपुरा तापिन्यो० ५/३)

अर्थात् मनही बन्धन और मोक्ष का कारण है। विषयासक्त मन से बन्धन तथा विषय-रहित मन से मोक्ष होता है।

भगवान शङ्कराचार्य जी ने भी कहा है—जगत को किसने जीता! जिसने मन को जीता है।

जितं जगत्केन मनो हि येन।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीतामें बताया है कि मनकी शान्ति से ही उत्तम आनन्द की प्राप्ति हो सकती है—

प्रशान्तमनसं ह्येनं
योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं
ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

(गीता ६/२७)

'जिसका मन अच्छी प्रकार शान्त है और जो पाप से रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के साथ एकीभाव हुए योगी को अति उत्तम आनन्द प्राप्त होता है।'

मन को संयमित करने के लिए 'योगदर्शन' में अभ्यास और वैराग्य को ही साधन रूप से कहा गया है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।
(यो० समा० १२)

इन प्रकरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मन को अन्तर्मुखी बनाने से ही शाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है और मन योग के द्वारा संयमित हो जाता है इसलिए वास्तविक सुख की कामना वाले मनुष्य के लिए योगही परम अवलम्ब है। तभी तो जगदात्मा श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा अर्जुन को योगी बनने की आज्ञा देते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
(गीता ६/४६)

'योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है और शास्त्र के ज्ञान वालों से भी श्रेष्ठ माना गया है तथा सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है, इससे हे अर्जुन ! तू योगी हो।'

न च तीव्रेण तपसा न
स्वाध्यायैर्न चेज्यया ।
गतिं गन्तुं द्विजाः शक्ता
योगात् संप्राप्नुवन्तियाम् ॥
(अत्रिस्मृतिः १/७)

'तीव्र तप, स्वाध्याय अथवा यज्ञों द्वारा ब्राह्मण उस गति को प्राप्त नहीं करता जिसको कि योग की शक्ति से प्राप्त कर लेता है।'

श्री परम पिता परमात्मा के साथ युक्त हो जाना ईश्वर को यथार्थ में पा लेना अथवा ईश्वरमय हो जाना यही जीव का परम ध्येय है। जब तक मनुष्य इस स्थिति में नहीं पहुँच जायगा, तब तक न उसको तृप्ति होगी, न शान्ति मिलेगी, न भटकना बन्द होगा और न किसी पूर्ण, नित्य, सनातन, आनन्द रूप तत्व संयोग की अतृप्त और प्रच्छन्न आकांक्षा की ही पूर्ति होगी। इस पूर्णकि संयोग का नाम ही योग है। अथवा इसको पाने के लिए जो जीव का विविध रूप सावधान प्रयत्न है, उसका नाम भी योग है। यह पूर्ण की प्राप्ति का प्रयत्न जिस क्रिया के साथ जुड़ता है, वही योग बन जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, सांख्ययोग, राजयोग, लययोग, हठयोग और सिद्धयोग आदि इसी के नाम हैं।

सभी साधनों का लक्ष्य मोक्ष या परमानन्द की प्राप्ति है। सारे ही साधनों की गति उस एक ही परम ध्येय की ओर है। फिर ऐसा साधन क्यों न साधना चाहिए, जिससे रुकने या गिरने का डर न हो, और इसी जीवन में लक्ष्य तक पहुँच जाने का निश्चय हो। ऐसा साधन है 'सिद्धयोग' और सभी साधनों में विघ्न है परन्तु 'सिद्धयोग' सर्वथा निर्विघ्न है क्योंकि सिद्धयोग का साधक सिद्धानुग्रह (श्री-गुरुदेव कृपा) से कोई विघ्न महसूस नहीं करता

उसके सारे विघ्न श्री सद्गुरुदेव दया करके हटा दिया करते हैं, और साधक निर्विघ्न होकर अपने साधन पथ पर चलकर अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर परम श्रेय का भागी हो जाता है। पूर्ण शक्ति के मालिक श्री गुरुदेव दया करके अधिकारी शिष्य को 'सिद्धयोग' का उपदेश देकर उसे कृतार्थ कर देते हैं। ऐसे गुरुदेव साधक के अनेक जन्मार्जित पुण्य-पुञ्ज के फल-स्वरूप मिला करते हैं।

'सिद्धयोग' के प्रदाता गुरुदेव की महिमा यत्र तत्र सर्वत्र मुक्त कण्ठ से गाई गई है—

गुरु शब्द की रचना 'गु' तथा 'रु' के संयोग से हुई है 'गु' का अर्थ है अन्धकार तथा 'रु' का अर्थ है—प्रकाश।

गु शब्दस्त्वन्धकारोऽस्ति
रु शब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकार निरोधित्वाद्
गुरु रित्यभिधीयते॥

'न गुरोरधिकम्'—गुरुदेव के समान विश्व में कोई वस्तु नहीं है।

यः शिवः स गुरुः स्मृतः।

जो शिव है, वही गुरु है। इन दोनों में कोई भेद नहीं है। सम्प्रदाय विशेष के ग्रन्थ 'वीर शैव सिद्धान्त' में कहा है—

सप्त सागर पर्यन्तं,
तीर्थ-स्नान फलं सदा।
गुरोरङ्घ्रि पयोबिन्दु
सहस्रांशं न पूरयेत्॥

'सप्त समुद्र-तीर्थ स्नान भी गुरु पादोदक के एक बिन्दु के समान नहीं है।'

'कौलोपनिषद' जो तन्त्र-शास्त्र का परम मान्य उपनिषद् है, वर्णन करता है—'गुरुरेकः।' जिसका तन्त्रान्तर भाष्य देता है—

आदि नाथो महादेवि
महाकालो हि यः स्मृतः।
गुरुः स एव देवेशि
सर्व मन्त्रेषु नापरः॥

अर्थात्—मुमुक्षु को मनन से त्राण दिलाने वाले अर्थात् मन्त्र का उपदेश देने वाले गुरु में स्वयं महाकाल ही उपदेश के समय आविर्भूत होते हैं। श्रुति भगवती कहती है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।

'तत्त्व ज्ञान के लिए सद्गुरु की ही शरण में जाना चाहिये।' परमहंस संहिता श्रीमद्भागवत में जहाँ एक-एक दोष जीतने का एक-एक साधन बताया है, उसी प्रसङ्ग में सर्व दोष विजय का केवल एक साधन भी कहा है। वह है श्री गुरु चरणों में अनन्य भक्ति—

एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या
पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्।

गौतमी तन्त्र में वर्णन आता है कि बिना

गुरु दीक्षा के साधक जो भी साधन करता है उसकी सब साधन क्रियायें व्यर्थ हो जाती है—

अथ दीक्षा प्रवक्ष्यामि,
सर्व कामार्थ सिद्धिदाम् ।
यया विना नैव सिद्धः
स्यान्मन्त्री वर्षशैरपि ॥
तया विना महादेवि,
अधिकारो न कर्मणि ।
सर्वा श्रमेषु भूतेषु,
सर्व देवेषु सुव्रते ॥
दीक्षा विना महादेवि,
तस्य सर्व वृथा भवेत् ।
दीक्षामूलं जगत्सर्वं,
दीक्षामूलं परं तपः ॥
दीक्षामूलं महासिद्धिस्त-
स्माद्दीक्षा समाचरेत् ॥
अदिक्षिता ये कुर्वन्ति,
जपपूजादिकाः क्रियाः ।
न भवन्ति प्रिये तेषा,
शीलायामुप्त बीजवत् ॥

अर्थात्—दीक्षा सम्पूर्ण काम और अर्थ की सिद्धि को देने वाली है। इसके न लेने से सौ वर्ष तक भी मन्त्र जपते रहिये, मन्त्र की सिद्धि नहीं मिलेगी। इसके बिना हे महादेवि ! मनुष्य कर्मानुष्ठान का अधिकारी नहीं होता। दीक्षा ही सबका मूल है। इसीसे तपस्या फलदायिनी होती है। इसीलिए दीक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है। शीला में जमाया हुआ बीज जैसे नहीं उगता, वैसे ही दीक्षा न लेने वाले पुरुष की सब क्रियायें व्यर्थ हो जाती हैं। जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया है कि कल्याण-कामी मनुष्य के लिए जो शाश्वत सुख का अभिलाषी हो उसे श्री सद्गुरु कृपा से योगमार्ग में लगाकर अपने को कृतार्थ कर लेना चाहिए, क्योंकि गुजरना तो सबको पड़ेगा योग में से ही होकर, चाहे वह सीधे योगमें लग जाय या लम्बी प्रक्रिया पार करके आवे। इसीलिए भगवान् शंकर ने पार्वती जी से कहा है—

योगात्संप्राप्यते ज्ञान
योगो धर्मस्य लक्षणम् ।
योगः परं तपोज्ञेयः
तस्मात् योग समभ्यसेत् ॥

अर्थात्—"योग से ज्ञान प्राप्त होता है, योग ही धर्म का लक्षण है, योग ही परम तप है, अतः प्रयत्न के साथ योग का ही अभ्यास करना चाहिए।"

गुरु-भक्त बालक उत्तंक

[श्री सुरेन्द्र बहादुर एम० ए०, दर्शनशास्त्र]

अपने प्रिय शिष्य उत्तङ्क की सेवा से प्रसन्न होकर आचार्य महर्षि वेद ने कहा— "बेटा उत्तङ्क तुमने धर्म-पूर्वक मेरी सेवा की है। मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। अब मैं तुम्हें घर लौटने की आज्ञा देता हूँ। जाओ, तुम्हारी सभी कामनायें पूर्ण होंगी।" गुरुदेव के वचनों को सुनकर उत्तङ्क ने विनयपूर्वक प्रार्थना की, भगवन् ! मैं आपकी आज्ञा के अनुसार ही आपको दक्षिणा भेंट करना चाहता हूँ। अतः आप मुझे आज्ञा दें कि मैं आपको क्या दक्षिणा दूँ।" गुरुदेव चुप रहे। उन्होंने उत्तङ्क को कुछ दिन और आश्रम में ठहरने की आज्ञा दी।

एक दिन उत्तङ्क ने पुनः अपनी प्रार्थना दुहराई। गुरुदेव ने उत्तर दिया, "वत्स उत्तङ्क ! तुम बार-बार मुझसे कहते हो कि 'मैं क्या गुरुदक्षिणा भेंट करूँ ? अतः जाओ घर के भीतर प्रवेश करके अपनी गुरु-पत्नी से पूछ लो कि 'मैं क्या गुरु दक्षिणा भेंट करूँ' ? वे जो बतावें वही वस्तु उन्हें भेंट करो।"

गुरु की ऐसी आज्ञा पाकर उत्तङ्क ने घर के भीतर जाकर गुरु-पत्नी से कोई अभीष्ट वस्तु गुरु-दक्षिणा के रूप में भेंट करके गुरु के ऋण से उऋण होने की इच्छा प्रकट की और उसने उस अभीष्ट वस्तु का नाम बतलाने की प्रार्थना उनसे की। गुरु-पत्नी बोलीं—"वत्स ! तुम राजा पौष्य के यहाँ से उनकी क्षत्राणी पत्नी के दोनों कुण्डलों को माँगलाओ, और उन कुण्डलों को लेकर शीघ्र आओ, क्योंकि आज के चौथे दिन पुण्यक व्रत के अवसर पर मैं उन कुण्डलों को पहनकर ब्राह्मणों को भोजन परोसना चाहती हूँ। तुम मेरा यह मनोरथ पूर्ण करो। तुम्हारा कल्याण होगा। अन्यथा कल्याण की प्राप्ति असम्भव है।

गुरु-पत्नी के ऐसा कहने पर उत्तङ्क वहाँ से चल दिये। रास्ते में उन्होंने एक बहुत बड़े बैल को और उस पर चढ़े हुए एक विशालकाय पुरुष को देखा। उस पुरुष ने उत्तङ्क से उस बैल का गोबर खाने के लिए कहा। पहले तो उत्तङ्क हिचकिचाये, किन्तु बाद में उस पुरुष की आज्ञा मानकर उस बैल का गोबर खाकर उतावली के कारण खड़े-खड़े ही आचमन किया और फिर वे वहाँ से चल दिये। क्षत्रिय राजा पौष्य के पास पहुँच कर उत्तङ्क ने उन्हें आसन पर बैठे पाया। उत्तङ्क ने राजा के

समीप जाकर आशीर्वाद से उन्हें प्रसन्न करते हुए कहा—"राजन् ! मैं याचक होकर आपके पास आया हूँ।" राजा ने उन्हें प्रणाम करके कहा—"भगवन् ! आपका सेवक पौष्य है, कहिए किस आज्ञा का पालन करूँ ?" उत्तङ्क ने उत्तर दिया, "राजन् ! मैं गुरु-दक्षिणा के निमित्त उन दोनों कुण्डलों को आपसे लेने आया हूँ, जिन्हें आपकी पत्नी ने पहन रखा है। आप कृपया हमें वे दोनों कुण्डल दे दीजिए। यह कार्य आपके योग्य ही है।" राजा पौष्य ने उनकी याचना को स्वीकार कर लिया और उत्तङ्क को अन्तःपुर में जाकर क्षत्राणी से उन कुण्डलों को स्वतः मांगने की अनुमति दे दी। उत्तङ्क ने अन्तःपुर में प्रवेश किया। महारानी उत्तङ्क को देखते ही उठकर खड़ी हो गयी और प्रणाम करके बोलीं—"भगवन् आपका स्वागत है, आज्ञा दीजिए, मैं क्या सेवा करूँ ?" उत्तंक ने महारानी से कहा—"देवि ! मैंने श्री गुरुदेव के लिए आपके दोनों कुण्डलों की याचना की है। अतः आप उन्हें मुझे दे दें।" महारानी उत्तंक की गुरु-भक्ति से बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने उत्तंक को सुपात्र ब्राह्मण जानकर अपने दोनों कुण्डलों को स्वयं उतार कर उन्हें दे दिया और उनसे कहा—"ब्रह्मन् ! नागराज तक्षक इन कुण्डलों को पाने के लिए बहुत प्रयत्नशील है। अतः आप इन्हें सावधान होकर ले जाइये।" रानी की बात को सुनकर अपने गुरुदेव के लाड़ले तथा गुरुदेव में अनन्य निष्ठा रखने वाले उत्तंक ने अपने गुरुदेव का भरोसा करते हुए कहा "देवि ! आप निश्चिन्त रहें। नागराज तक्षक मुझसे भिड़ने का साहस नहीं कर सकता।"

राजा तथा महारानी से आज्ञा लेकर उत्तंक दोनों कुण्डलों को लेकर वहाँ से चल दिये। मार्ग में उन्होंने अपने पीछे आते हुए एक नग्न क्षपणक को देखा जो कभी तो दिखाई देता और कभी छिप जाता था। कुछ दूर जाने के पश्चात् उत्तंक ने उन कुण्डलों को एक जलाशय के किनारे भूमि पर रख दिया और स्वयं शौच, स्नान, आचमन, संध्या तर्पण आदि करने लगे। इतने में ही क्षपणक बड़ी शीघ्रता के साथ वहाँ आया और दोनों कुण्डलों को लेकर भाग गया। उत्तंक ने स्नान-तर्पण आदि जल सम्बन्धी कार्य पूर्ण करके शुद्ध एवं पवित्र होकर देवताओं तथा गुरु को नमस्कार किया और जल से बाहर निकल कर बड़े वेग से उस क्षपणक का पीछा किया। वास्तव में वह नागराज तक्षक ही था। उत्तंक ने दौड़ते-दौड़ते उस क्षपणक को पकड़ लिया। पकड़ में आते ही उसने क्षपणक का रूप त्याग दिया और तक्षक नाग का रूप धारण करके वह एकायक प्रकट हुए पृथ्वी के एक बहुत बिल में घुस गया। बिल में प्रवेश करके वह नागलोक में चला गया। उत्तंक को उस समय उस क्षत्राणी की बात का स्मरण हो आया। उसने नागलोक तक उस तक्षक का पीछा करने का निश्चय किया।

उत्तंक ने उस विवर को अपनी लाठी से खोदना आरम्भ किया, किन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। उस समय इन्द्र ने बालक उत्तंक को अपने गुरु के निमित्त इस प्रकार का क्लेश उठाते देखकर अपने वज्र को उस ब्राह्मण बालक की सहायता करने के लिए भेजा। वज्र ने डंडे की लकड़ी में प्रवेश करके उस बिल को विदीर्ण कर दिया और पाताल लोक तक पहुँचने का मार्ग बना दिया। तब उत्तंक उस बिल में घुस गये। उसी मार्ग से भीतर प्रवेश करके उन्होंने नाग-लोकका दर्शन किया, जिसकी कहीं सीमा नहीं थी। वह लोक अनेक प्रकार के मन्दिरों, महलों, ऊँचे-ऊँचे मण्डपों तथा सैकड़ों दरवाजों से सुशोभित और छोटे-बड़े सुन्दर क्रीड़ा-स्थलों से परिपूर्ण था। उन्हें वहाँ दो स्त्रियां दिखाई दीं, जो सुन्दर करघे पर रखकर सूतके ताने में वस्त्र बुन रही थीं। उस ताने में उत्तंक ने काले और सफेद दो प्रकार के सूत और बारह अरों का एक चक्र भी देखा, जिसे छः कुमार घुमा रहे थे। वहीं एक श्रेष्ठ पुरुष भी दिखाई दिये, जिनके साथ एक सुन्दर अश्व भी था। उत्तंक ने पहले नागों की स्तुति की, परन्तु कुण्डल नहीं मिले। फिर उसने उस श्रेष्ठ पुरुष की स्तुति की। तब वह पुरुष उत्तंक से बोले—'ब्राह्मण! मैं तुम्हारी स्तुति से बहुत प्रसन्न हूँ। कहो तुम्हारा कौनसा प्रिय कार्य करूँ?' उत्तंक ने वर मांगा—'सभी नाग मेरे अधीन हो जायँ।' वह पुरुष उत्तंक से बोला—'इस घोड़े की गुदामें फूँक मारो।' यह सुनकर उत्तंक ने घोड़े की गुदा में फूँक मारी। फूँक मारते ही घोड़े के शरीर के समस्त छिद्रों से धुएँ सहित आग की लपटें निकलने लगीं। सारा नागलोक धुएँसे भर गया। तक्षक घबरा गया और आग की ज्वाला के भय से दुःखी होकर दोनों कुण्डल लिये घर से बाहर आया और विनयपूर्वक दोनों कुण्डल उत्तंक को लौटा दिये।

उत्तंक ने दोनों कुण्डलों को पुनः प्राप्त तो कर लिया, किन्तु उसी दिन उनकी गुरु-पत्नी का पुण्यक व्रत था, अतः समस्या थी तत्काल नाग-लोक से गुरु-गृह पहुँचने की। उत्तंक चिन्तित हो उठे। वह पुरुष उत्तंक के मनोभावों को समझ गया और उसने उत्तंकको अपने घोड़े पर बैठाकर तत्काल गुरु के घर पहुँचा दिया। इधर गुरु-पत्नी स्नान करके उत्तंक की प्रतीक्षा करते-करते क्रुद्ध होकर उसको शाप देने का विचार कर रही थी। ठीक उसी समय उत्तंक दोनों कुण्डलों को हाथ में लिये गुरु-पत्नी के पास पहुँच गया और विनयपूर्वक प्रणाम करके वे दोनों कुण्डल सादर समर्पित कर दिये। गुरु-पत्नी ने प्रसन्न होकर उत्तंक को सर्व-सिद्धि-प्राप्ति का आशीर्वाद दिया। गुरुदेव ने भी गद्गद् कण्ठ से उत्तंक को आशीर्वाद दिया। उत्तंक तत्काल ही सारी विद्याओं के ज्ञाता बन गये।

हमारे शास्त्रों ने हमें शिक्षा दी है—गुरु-भक्ति सदा कुर्यात् श्रेयसे भूयसे नरः। अर्थात् जो मनुष्य अपना परम कल्याण चाहता है, उसे गुरु-भक्ति करनी चाहिए। गुरु-भक्ति का मार्ग संसार में कोई नहीं रोक सकता। गुरु-भक्ति के कारण ही उत्तंक सदा के लिए अमर हो गये।

योगिराज भगवान् शिव का—

योग-शक्ति से पार्वती का भवन-निर्माण

[श्री गुरुनारायण पाण्डेय]

एक बार पार्वती जी इन्द्राणी के घर निमन्त्रित हुईं। इन्द्र का भव्य महल देखकर उनका मन ललचा गया। कैलाश लौटने पर उन्होंने भगवान शंकर से कहा—भगवन्! आप आशुतोष हैं। सहज रूप में लोगों की बड़ी से बड़ी इच्छायें पूरी करते रहते हैं, मेरी भी एक इच्छा पूरी कीजिए। मैं चाहती हूँ कि हमारे कैलाश पर इन्द्र के महल जैसा एक महल बने और हम लोग उसमें कुछ काल तक निवास करें।

पार्वती जी की बात सुनकर भगवान शंकर हँस पड़े। फिर कुछ गम्भीरता से बोले—यह तुम्हारा इन्द्रपुरी का संस्कार है। देवी! संसार बड़ा मोहक है। इसकी जिन सुन्दर वस्तुओं से इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है उनके सुख-भोग की लिप्सा मन में जगती ही है। किन्तु योगी और भोगी में यह अन्तर होता है कि योगी अपनी सूक्ष्म दृष्टि से उनकी वास्तविकता को परख कर उनसे निःसंग रहता है और स्थूल दृष्टि का भोगी उनकी वासना में आसक्त हो जाता है। हम लोग कैलाशवासी योगी हैं। विशाल प्रकृति की गोद में विचरण करते हुए सूक्ष्म शक्तियों के अनुसन्धान में रत रहते हैं। प्राणियों का जीवन तो प्रकृति की ही देन है भवानी! उसकी वृद्धि और विकास प्रकृति से ही होता है। प्रकृति के विशाल मन्दिर में आत्मा का परमात्मा के साथ जो सहज साक्षात्कार होता रहता है वह किसी महल में सम्भव नहीं। महल की पक्की दीवारें अहर्निश प्रवाहित होने वाले दिव्य शक्ति के प्रवाह को रोक देती हैं।

उस समय तो पार्वती जी चुप हो गईं। किन्तु महल की वासना उनके मनसे गई नहीं। एक दिन फिर वे इन्द्र के महल की प्रशंसा करने लगीं। अन्तर्यामी शिवजी ने पार्वतीजी के मन की बात जान ली। उन्होंने विश्वकर्मा को बुलाकर कहा—विश्वकर्मा! पार्वती की इच्छा महल में रहने की हो रही है। तुम इनके लिए एक सुन्दर महल तैयार करो।

विश्वकर्मा गद्‌गद् हो उठे। आज कला गुरुओं के आदि गुरु भगवान शंकर को अपनी कला का पुष्प अर्पित करने का सुअवसर उन्हें प्राप्त हुआ था। रंग-बिरंगे पत्थर और बहु-मूल्य मणि-रत्न एकत्र कराकर पूर्ण मनोयोग से वह महल बनाने में जुट गये और कैलाश की चोटी पर एक भव्य-भवन जगमगा उठा।

श्री पार्वती ने भगवान शंकर से अनुरोध किया—भगवन्! महल बनकर तैयार हो गया। अब किसी योग्य पण्डित से उसका गृह-प्रवेश संस्कार करा दिया जाय तो हम लोग उसमें चलें।

भगवान ने कुछ सोचकर कहा—"मेरी राय है कि इस कार्य के लिए लंका के राक्षसराज रावण को बुलाया जाय। वह ज्योतिष शास्त्र, रसायन, कर्मकांड आदि विद्याओं के अद्वितीय पण्डित हैं और आपके अनन्य भक्त भी तो हैं।" पार्वती जी ने हँसते हुए कहा—

रावण को बुलाने के लिए शिव के गण लंका भेजे गये। राक्षसेश्वर आये और महल का गृह-प्रवेश-संस्कार विधिवत् कराने के बाद भगवान शंकर से बोले—अब मेरी दक्षिणा मिल जाय तो स्वस्तिक पढ़कर यज्ञ की पूर्णाहुति कर दूं, आशुतोष!

भगवान ने प्रसन्न होकर पूछा—क्या दक्षिणा चाहते हो रावण? जो इच्छा हो मांग लो।

राक्षसराज ने गम्भीर मुद्रा में कहा—आशुतोष प्रसन्न हैं तो यह महल मुझे मिल जाय। यह रावण जैसे भोगी के लिए ही उपयुक्त है। योग-योगेश्वर के लिए इसका क्या प्रयोजन है?

भगवान शंकर ने स्मित मुद्रा में 'एवमस्तु' कह दिया और महाबली रावण उसे अपनी भुजाओं पर लंका उठा ले गये। पार्वती जी मन मसोस कर रह गईं।

कुछ कालोपरान्त एक दिन वे फिर भगवान शंकर के सामने इन्द्रपुरी के महलों की प्रशंसा करने लगीं।

भगवान शंकर ने मुस्कराते हुए कहा—वासना का बीज बड़ा सूक्ष्म होता है देवी! तुम्हारे मन से महल की वासना गई नहीं। अच्छा अब मैं स्वयं विश्वकर्मा का सहयोग करूँगा और तुम्हारे लिए उस महल से भी अच्छा महल बनाऊँगा।

विश्वकर्मा बुलाये गये। भगवान शंकर महल बनाने में स्वयं उनका सहयोग करने लगे। वे इस कार्य में इतने तन्मय हुए कि खाना-पीना सब भूल गये। पसीने से लथपथ अपने प्रियतम को इस प्रकार श्रम करते देख पार्वती जी झुंझलातीं। उन्हें मना करतीं। किन्तु भगवान तो संकल्प-स्रष्टा ठहरे। एक बार संकल्प कर लेने के बाद उसकी सिद्धि के पहले उन्हें अवकाश कहाँ?

कुछ दिनों में कैलाश की चोटी पर एक अद्भुत महल "न भूतो न भविष्यत्" बनकर तैयार हो गया। देव, दानव, गंधर्व सब विमानों पर चढ़कर उसे देखने आने लगे। स्वर्ग-लोक में उसकी ख्याति फैल गई और देवराज इन्द्र को ईर्ष्या होने लगी।

इस बार गृह-प्रवेश के लिए रावण को बुलाने की पार्वती जी की इच्छा नहीं थी। किन्तु भगवान शंकर ने समझाया : श्रेष्ठ पुरुष लोक-मर्यादा भंग नहीं करते भवानी! जब रावण को एक बार पुरोहित बना लिया तो अब उन्हीं से गृह-प्रवेश संस्कार सम्पन्न कराना उचित है। इस बार वह तुम्हारा महल नहीं माँगेंगे। उनसे बड़ा कर्मकाण्डी विद्वान् कोई दूसरा है भी तो नहीं।

रावण को बुलाने के लिए शिवजी के गण भेजे गये और राक्षसराज अपने रथ पर आरूढ़ होकर कैलाश आ गये।

उन्होंने देवताओं के साथ चारों ओर घूम कर महल की परिक्रमा की, उसकी कला को सराहा। फिर भगवान शंकर के सामने बैठकर ज्योतिष के अनुसार गणना करने लगे। थोड़ी देर बाद उन्होंने खिन्न होकर कहा—इस महल पर शनिकी दृष्टि पड़ गई है भगवन्! उपाय न किया गया तो यह अवश्य भस्म हो जायेगा।

"इसका क्या उपाय है राक्षसराज?" पार्वती जी ने घबराकर पूछा।

"उपाय तो है मातेश्वरी! किन्तु बड़ा कठिन है। यदि किसी प्रकार शनि इस महल के निर्माता के सामने होकर अच्छी तरह हँस दे तो यह दोष मिट जायगा।"

"इसमें क्या कठिनाई है रावण! मैं शनि को बुलाकर कह दूंगा वह हँस देगा।" भगवान् ने कहा।

"आपके प्रभाव से हँस दे तो ठीक है, किन्तु शनि बड़ा हठी देवता भगवन्!" राक्षसेश्वर ने विनम्रता से कहा।

शनि के पास भगवान शंकर का सन्देश भेजा गया। उसे सुनकर शनिने कहा—जाकर भगवान से कह देना संसार की सब मर्यादायें उन्हीं की बनाई हुई हैं। तथा लोग तो उनके निमित्त मात्र हैं। इस अवस्था में मैं उनके पास कैसे आऊँ? वैसे तो वे योग-योगेश्वर हैं, 'कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं' सर्व समर्थ हैं।

सन्देशवाहक गणों ने लौटकर जब शनि की यह बात बताई तो भगवान ने कहा—शनि का कथन ठीक है कार्य मेरा है। मुझे ही शनि के पास जाना चाहिए। मैं स्वयं ही शनि के पास जाऊँगा और उसे हँसाने का प्रयत्न करूँगा। किन्तु मेरे हँसाने पर भी यदि वह न हँसा तो मैं भृंगी बना दूंगा और तुम स्वयं महल में आग लगा देना पार्वती! आखिर महल तो जलेगा ही। रावण की गणना झूठ नहीं हो सकती।

राक्षसराज रावण के साथ भगवान शंकर शनि के पास गये। रावण ने महल की सारी कथा सुनाई। उसे सुनकर शनि ने गम्भीर मुद्रा में कहा—"क्या बिना हँसी के हँसूं रावण ? इससे तुम्हारा काम बन जायगा।"

"नहीं, नहीं तुम्हें ठीक ढंग से हँसना होगा ! तब दोष का निवारण होगा।"

"ऐसी बात है तो नटराज से कहो, वह मुझे अपनी नृत्य कला से हँसावें।"

भगवान शंकर शनि के सामने हास्य-नृत्य करने लगे। उन्होंने विविध प्रकार से देर तक नृत्य किया, किन्तु शनि की गम्भीर मुख-मुद्रा पर हास्य की कोई रेखा नहीं फूटी। तब उन्होंने अपनी शृंगी एक ओर रख दी और हाथ, मुंह टेढ़ा-मेढ़ा कर विकृत नृत्य करने लगे। शनि थोड़ा-सा मुस्कराया। भगवान का नृत्य और तीव्र हो उठा और बीभत्स-कोटि तक जा पहुंचा। तब शनि हँसते हुए उठा और भगवान की शृंगी उठाकर जोर से उसे बजा दिया।

इधर पार्वती ने जब शृंगी की आवाज सुनी तो महल में आग लगा दी। जब भगवान शंकर रावण के साथ वापिस लौटे तो महल धांय-धांय जल रहा था।

राक्षसेश्वर ने अपने योग-बल से शनि के सामने किये हुए भगवान शंकर के उस विकृत-नृत्य का सारा दृश्य पार्वती जी को दिखला दिया।

पार्वती जी उसे देखकर यह कहती हुई सिसक पड़ीं : 'अच्छा हुआ यह महल शुरू में ही जल गया, जिसके लिए मेरे प्रियतम को इतना दुःख उठाना और दुष्ट शनि के सामने ऐसा नाच नाचना पड़ा।'

उन्होंने यह कहते हुए भगवान शंकर का चरण पकड़ लिया। आप धन्य हैं भगवन ! आपकी माया अपार है। इस महल के साथ आपने मेरे भीतर की सारी वासना जलाकर क्षार कर डाली।

अतुल प्यार के साथ पार्वती जी के मस्तक पर हाथ रखकर भगवान बोले—संसार की सब चीजें सबके लिए नहीं होतीं पार्वती ! अब तुम एक बार आँख खोलकर अपने इस प्राकृतिक महल कैलाश की छटा का अवलोकन करो। जीवन की जो स्फूर्ति इस नित्य नवीन रहने वाली प्रकृति में मिलती है। क्या मनुष्य निर्मित किसी महल में वह चेतना मिल सकती है। इसीलिए तो योगेश्वरों को तुम्हारा यह खण्ड चिरकाल से प्रिय है। भोगपुरी के सारे महल कभी न कभी जलकर क्षार हो जाने वाले हैं, क्योंकि उनमें वासना और अहंकार चलते हैं। किन्तु तुम्हारी यह भोगपुरी, जो जीव और शिव के मिलन की प्रेम-स्थली है अमर है। तुम इसमें अपने योग-बल से विचारो और भोग-लिप्सामें पड़े संसार के दुःखी प्राणियों को सँभालती रहो भवानी !

मनः एवं प्राण-शक्ति का निरूपण

● श्री मानिकचन्द उमर वैश्य

प्राण-शक्ति, मनः शक्ति, क्रिया-शक्ति, भावना-शक्ति और बुद्धि-शक्ति—ये शक्तियाँ हैं और इन्हीं के अनुक्रम में पांच योग हैं—हठ-योग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। इनमें प्राण-शक्ति और मनः शक्ति ये दोनों ही अत्यन्त प्रबल हैं। इन दोनों को जो वश में कर लेता है, वह संसार-विजयी होता है।

(१) प्राणशक्ति को वश में करना

प्राण शक्ति को वश में करने वाला साधक इस पृथ्वी पर रहने वाले प्राणियों और आकाश में उड़ने वाले पक्षियों को वशीभूत कर सकता है। नक्षत्र-मण्डल की वार्ता भी जान सकता है। प्राण के आधार पर ही यह अखिल ब्रह्माण्ड स्थित है। यही प्राण सबको वायुरूप से प्रतीत हो रहा है।

प्राणो विराट् प्राणोदेष्ट्री,
प्राणं सर्व उपासते।
प्राणो हि सूर्यश्चन्द्रमाः,
प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥
(अथर्ववेद)

अर्थात् प्राण विराट् है, सबका प्रेरक है, इसलिए सब इसकी उपासना करते हैं। प्राण ही सूर्य और चन्द्रमा है। प्राणको ही प्रजापति कहते हैं।

प्राण-शक्ति के कारण ही हमारे शरीर की नसों एवं नाड़ियों में रक्त-कर प्रवाह चल रहा है। उसी प्रकार प्राण शक्ति के बल पर ही सूर्यादि लोक घूम रहे हैं। अन्न, वनस्पति आदि सूर्य की प्राण शक्ति से ही उत्पन्न होते हैं। प्राण ही तेज है। इस पांच भौतिक शरीर को प्राण जब छोड़ देता है, तब यह शरीर निस्तेज होकर गिर पड़ता है। प्राणियों का प्राण ही ईश्वर है।

प्राणाय नमोः यस्य,
सर्व मिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो,
यस्मिन्त सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
(अथर्ववेद)

अर्थात् उस प्राण को नमस्कार है, जिसके अधीन यह सारा जगत् है, जो सबका ईश्वर है। जिसमें यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है।

प्राण परमेश्वर की एक शक्ति है, इसका साधन गुरुमुख से ही जानकर करना चाहिए। मूलधार-चक्र से साधन आरम्भ किया जाता है। बायें पैर की ऐड़ी से गुदाद्वार बन्द करके मूलबन्ध लगाया जाता है और जननेन्द्रिय के मूल को दोनों ऐड़ियों से दबाकर कुण्डलिनी को जगाया जाता है। स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर जो कन्द है, उसे दोनों ऐड़ियों से दबाने से कुण्डलिनी जागती है। वहांसे ऊपर चढ़कर मणिपूरक चक्र को भेदकर प्राण अनाहत-चक्र में पहुंचता है। वहां ज्योति का साक्षात्कार होता है तब और ऊपर चढ़कर विशु-चक्र को भेदकर प्राण आज्ञाचक्र में जाता है जहां शिव के दर्शन होते है। यहीं से अमृत स्राव होता है। योगी लोग खेचरीमुद्रा लगाकर इस अमृत का पान करते हैं और अमर हो जाते हैं। नाभि में जालन्धर बन्ध और वक्षःस्थल में उड्डीयान बन्ध लगाकर योगी लोग प्राण को मस्तिष्क में ले जाते हैं, जहां से ऊपर सहस्रार है—जो विष्णु भगवान् का धाम और सबका मोक्ष स्थान है। पूरक, रेचक और कुम्भक इस त्रिविध प्राणायाम से यह साधन बनता है। बाहरी कुम्भक और भीतरी कुम्भक से जो प्राण को अपने वशमें कर लेता है। वह अपनी शक्ति से अनायास आकाश में वायु के समान संचार कर सकता है। सशरीर अन्य लोकों में जा सकता है, अपने स्थान में बैठे-बैठे सहस्रों कोस की दूरी पर अपना कार्य कर सकता है। रोगियोंको रोगोंसे मुक्त कर सकता है, बंदियों के बन्धन को छुड़ा सकता है। लेकिन यह सब प्राप्त करने के लिए गुरु के समीप रहकर उनके बताये हुए मार्ग से ही साधन करना चाहिए।

(२) मनःशक्ति को वश में करने का उपाय

मन बड़ा चंचल है। यही बात अर्जुन अपने गुरु से पूछ बैठे—

चंचलं हि मनः कृष्णः,
प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये,
वायोरिव सुदुष्करम्॥

'यह मन बड़ा चञ्चल, बड़ा बलवान्, दृढ़ और मथने वाला है। इसको रोककर स्थिर करना वायु की गति को रोकने के समान अत्यन्त कठिन है।'

मन का यह स्वभाव है कि यह बन्दर की तरह यहांसे वहां एक डाल पर से दूसरी डाल पर कूदता-फांदता रहता है, एक क्षण में उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम की सैर कर आता है। बात की बात में चारों धाम व पृथ्वीकी यात्रा कर लेता है। इसकी चञ्चलता का क्या ठिकाना है? मन इतना बलवान् है कि सहस्रों हाथियों के पांवों में जंजीर डाल देना या सहस्रों सिंहों को पिंजड़े में बन्द

करना आसान है, पर इसे स्थिर करना आसान नहीं।

योग जो कुछ है, इन्हीं वृत्तियों का निरोध है। जो इसका निरोध कर सकता है, वही ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। जो कुछ भी किया जाता है, वह मन के द्वारा किया जाता है। अच्छा या बुरा मन के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। जब यह मन शुभ-संकल्पों वाला होता है, तब वह अनन्त सुख का कारण होता है। इसकी बिखरी हुई सब वृत्तियां जब किसी स्थान में एकत्र निरुद्ध होती हैं, तब मनुष्य अनन्त शक्तिशाली होता है। बन्ध या मोक्ष दोनों का कारण मन ही है।

शास्त्रों में इस मन को स्थिर करने के उपाय बताये हैं। पर बड़े भाग्य और गुरु की कृपा से किसी का मन स्थिर और शान्त हो पाता है।

मंत्र जापसे मन शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है। शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, ॐ—चाहे कोई भी एक नाम लीजिये और उसे १०० तक गिनिये, यह मुकाम है। यहां से उल्टे लौटकर वैसे ही गिनते हुए एक पर आवें इस प्रकार अभ्यास बढ़ाते हुए एक हजार तक जाइये, फिर वहां से उल्टे पैरों लौटिये। अब देखेंगे कि आपका मन कितना शान्त होता है, अब दो हजार तक चढ़िये, यह दूसरा मुकाम है। इसी प्रकार दस हजार तक गिनिये और उल्टे फिर लौटिये। आपको विलक्षण शान्ति मिलेगी और जप भी होगा।

प्राणायाम करते हुए कुम्भक की क्रियायें करें जहां प्राण रुकेगा वहीं मन भी स्थिर होगा, यह निश्चित बात है। मन जहां 'जाप' करते-करते रुक जाय वहीं स्थिर रखियेगा और कुछ देर हृदय व नाभि चक्र का ध्यान करें, फिर अधखुले नेत्रों से मन को नासिका के अग्रभाग पर या भ्रूमध्य में स्थिर करें। इस प्रकार के अभ्यास से मन शान्त हो जायेगा और योगी को आत्मानुभव होने लगेगा।

पलंग या चारपाई पर लेट जाओ, तकिया हटा दो, कपड़ों को ढीला कर दो, शरीर को भी ढीला छोड़ दो। प्राण को उल्टा खींचो, पेट में ले जाओ, फिर छाती तक ले आओ, फिर पेट में नाभि तक घुमाओ। ऐसा करने से अभ्यास बढ़ाने से नाभि सूर्य प्रकाशित होगा और इसी प्रकार अभ्यास बढ़ाने से आत्म-साक्षात्कार होगा।

यदि शक्तिशाली बनना चाहते हो तो किसी मैदान में खड़े हो जाओ, शरीर ढीला छोड़ दो, हाथों को नीचे लटका दो, प्राण को आकाश में फेंक दो। फिर प्राण को भीतर भीतर खींचते हुए मन से यह काल्पनिक योग करो कि मैं अमुक शक्ति को खींचकर अपने अन्दर ला रहा हूँ। कुछ दिन ऐसा अभ्यास करने से आप में वह शक्ति प्रवेश हो जायगी। हमारे महान् पूर्वज मन और प्राण की शक्तियों से जो चाहते थे सो करते थे।

पांच शक्तियों में दो का ऊपर वर्णन हुआ है, शेष तीन—क्रिया-शक्ति, भावना-शक्ति और बुद्धिशक्ति इन्हीं दो शक्तियों में समा जाती हैं।

आश्रम समाचार—

योग-महोत्सव की सम्पन्नता

॥ प्रभुजी की जयन्ती पर अभूतपूर्व भण्डारा ॥

उपदेश ■ संकीर्तन ■ और यौगिक-प्रदर्शन

श्री सिद्धगुफा सवाई आश्रम के सुरम्य और सुविशाल प्रांगण में गत २७-२८ और २९ मार्च को महा प्रभुजी की पावन जयन्ती के उपलक्ष में आयोजित त्रिदिवसीय योग-महोत्सव, योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज की अध्यक्षता में अतीव धूम-धाम और सफलता के साथ सम्पन्न हुआ। इस वर्ष महोत्सव में भाग लेने वाले और दीक्षा प्राप्त करने वाले साधक भाई-बहनों की भीड़ पूर्वापेक्षा अधिक रही। रामनवमी के दिन महाप्रभुजी की जयन्ती के उपलक्ष में जो ब्रह्मभोज तथा भण्डारा हुआ, उसमें भी लगभग ११-१२ हजार भाई-बहनों ने सम्मिलित होकर प्रसाद ग्रहण करने का लाभ लिया। इतने विशाल भण्डारे की व्यवस्था स्वयं अपने में एक बड़ी समस्या होती है किन्तु आश्रम के दूरस्थ प्रदेशोंसे आये हुए साधक बड़ी कुशलता से अपने सद्गुरुदेव के निर्देशन में बड़े सुचारु और सुव्यवस्थित ढंग से सभी को आदर-श्रद्धा और स्नेह के साथ भोजन पंडालमें बुला-बुलाकर बारी-बारी से भोजन कराते रहे। आमन्त्रित तथा आगन्तुक कोई व्यक्ति भी ऐसा नहीं रहता जिसे भंडारे में सम्मिलित होकर भोजन न पाने की शिकायत रही हो।

महोत्सव का प्रारम्भ २७ तारीख को महाप्रभुजी की सामूहिक अर्चना व आरती के साथ हुआ, जिसे स्वयं श्री गुरुदेवजी महाराज ने कराया। आरती का यह कार्यक्रम वैसे तो आश्रम पर सदा-सर्वदा ही निर्धारित समय पर चलता है, किन्तु महोत्सव या विशेष पर्वों पर जब सहस्रों आश्रम पर आये हुए साधकों के साथ इसे आरम्भ किया जाता है, तब उसका श्रवण और दर्शन अत्यधिक आनन्द-दायी रहता है।

महोत्सव में भाग लेने को आये हुए सभी साधकों को आवास की सुविधा सदा आश्रम की ओर से ही की जाती है—इस वर्ष भी ऐसा ही हुआ।

ध्यानारम्भ —

महोत्सव में भाग लेने आने वाले सभी

साधकों को प्रातः उषाकाल प्रारम्भ होने से पूर्व ही जगा दिया जाता था। प्रातः ४ बजे तक प्रायः सभी भाई-बहन शौचादि नित्य-कार्यों से निवृत्त होकर ध्यान में बैठ जाते थे। ध्यानस्थ हो जाने का यह क्रम एक घण्टे से लेकर डेढ़ दो घण्टे तक चलता रहता था। ध्यान क्रिया समाप्त होने के पश्चात फिर सभी अपने अपने शिविरों में आसन आदि करते तथा प्रातराश आदि लेने चले जाते थे।

इसके पश्चात् ठीक ८॥ बजे से महोत्सव की कार्यवाही सामूहिक मंगलगायन के साथ आरम्भ हो जाती थी। इन मंगलगायनोंमें श्री पं० श्रीदत्तजी शर्मा आगरा व सवाई ग्राम के संकीर्तन-मण्डल, फीरोजाबाद संकीर्तन-मण्डल तथा ग्रामली व आसीमें संकीर्तन मण्डल के कला-कारों द्वारा मधुर व उपदेशप्रद भजन सुनने का सुयोग सभी श्रोताओं को भाव-विभोर बनाता रहा। इन मङ्गल गायनों के पश्चात् श्री गुरुदेव जी महाराज गुरु-गीता का पाठ करते हुए सभी को 'गुरु-तत्त्व' का स्वरूप हृदयंगम कराते थे। अपने इसी समयके प्रवचन में वे विविध शास्त्रीय वचनों की व्याख्या भी विशेष रूप से करके श्रोता-साधकों को अपने जीवन-निर्माण की दिशा का भी निर्देशन करते जाते थे।

मध्याह्नोत्तर महोत्सव का आरम्भ महिला सत्संग के साथ होता था, जिसका संचालन श्री गुरुदेव जी की आदरणीया गुरु-बहन तपस्विनी सुश्री द्रौपदीदेवी जी करती थीं तथा इनका सहयोग करती थीं, आश्रम की योग-धर्म प्रचारिका संगीतरत्न बहन उमा शर्मा। इस सत्संग में सरस संगीतमय उपदेश का जो भावनामय वातावरण बनता था वह बड़ा ही प्रेरणादायक और आनन्ददायी रहता रहा। इसी अवसर उन कतिपय योगाचार्यों के भाषण और प्रवचनों का लाभ भी श्रोता-समूह को मिलता रहा, जो विशेष रूप से श्री गुरुदेव जी के आमन्त्रण पर महोत्सव में भाग लेने के लिए आये हुए थे। इनमें काश्मीर के सुविख्यात योगी श्री हरि चैतन्य का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। साधना और तपस्या के धनी श्री हरि चैतन्य जी ने ध्यान कब करना चाहिए, कहाँ करना चाहिए और क्यों तथा कैसे करना चाहिए आदि महत्त्वपूर्ण विषयों को बड़े ही विस्तार और सरल ढंग से समझाया और बताया कि योग के बिना मानव की मुक्ति सम्भव नहीं। ग्वालियर (मध्य-प्रदेश) के योग-निकेतन आश्रम के संचालक योगिराज श्री मानसिंह ने अपने प्रवचन में योग-साधना के महत्त्व पर प्रकाश डाला।

श्री गुरुदेव जी महाराज ने भी अपने भाषण में दार्शनिक रूपसे गुरु-तत्त्व की व्याख्या की और बताया कि सद्गुरु के रूप में परात्पर गुरु सत्ता की ही अभिव्यक्ति हुआ करती है। अतः पूर्ण श्रद्धा और विश्वास के साथ योग-

मार्ग के साधक को सद्गुरु के आदेशों का अनुवर्तन करना चाहिए।

दूसरे दिन श्री महाराजजी के प्रिय शिष्य आधुनिक भीम श्री कृष्णमूर्तिजी तथा शाहदरा (दिल्ली) के श्री मौरतारामजी ने अद्भुत और पुरुषार्थपूर्ण यौगिक प्रदर्शन दिखलाकर दर्शकों को आश्चर्यचकित किया। इन दोनों के पुरुषार्थपूर्ण प्रदर्शनों के पीछे योग-साधना द्वारा अपने अन्तर्गत की शक्ति को बढ़ा लेना ही मुख्य कारण होता है। यही बात प्रदर्शनों द्वारा जनता को समझाई गई। रात्रि को एक दर्शनीय सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया, जिसकी सराहना सभी दर्शकों ने की। इसकी कथावस्तु कृष्णार्जुन-युद्ध पर आधारित थी। यह बरहुन मंडल के कलाकारों ने प्रस्तुत किया।

तीसरा दिन महोत्सव की सम्पन्नता का अंतिम दिवस होता है, इस दिन एक ओर अपने श्रद्धेय श्री गुरुदेव का पूजन करने वाले साधक भाई-बहनों की लम्बी-लम्बी पंक्तियां हाथों में पूजन का थाल व फल-फूल लेकर अपनी बारी की प्रतीक्षा में क्रमबद्ध होकर धीरे-धीरे आगे बढ़ती हैं तो दूसरी ओर योग-दीक्षा लेने वाले साधकों की भीड़ अपने गुरुदेव से गुरुमंत्र ग्रहण करने को उत्सुक-सी खड़ी रहती है। गुरुदेवजी महाराज पूजन का क्रम समाप्त होने पर योग-दीक्षा प्रदान करते हैं। कई वर्षोंसे दीक्षार्थियों की भारी भीड़ होनेके कारण दीक्षा अलग-अलग नहीं किन्तु सामूहिक रूप से प्रदान की जाती है। इसके साथ ही प्रभुजी के स्वरूप झांकी के सामने—महिला-सत्संग का कार्यक्रम अबाध गति से चलता रहता है। उधर यज्ञादि की सम्पन्नता के पश्चात् ब्रह्मभोज का शुभारम्भ भी वेद-मन्त्रों के पाठ के साथ होने लगता है। सभी कार्यक्रम इस दिन बड़े ही धीरज, कौशल और सुव्यवस्थापूर्वक सम्पन्न होता है।

योग-दीक्षा लेने वालों में इस वर्ष जनता पार्टी के नेता और अब केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री श्री राजनारायण का आगमन उल्लेखनीय है। श्री राजनारायण दिल्ली से चलकर उस समय सवाई आश्रम पहुँचे जब २७ मार्च को महोत्सव का शुभारम्भ हो रहा था। वे जब आये तब स्थानीय पुलिस अधिकारी भी उनकी सुरक्षार्थ आश्रम के इधर-उधर आ पहुँचे थे। उन्हें मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित करने की चर्चा दिल्ली में चल ही पड़ी थी। आश्रम पहुँचकर वे चुपचाप आकर श्री गुरुदेव जी के सामने बिछी चटाई पर बैठ गये तथा बैठने से पूर्व उन्होंने गुरुदेवजी को सश्रद्धा अभिवादन किया। श्री गुरुदेव जी ने उन्हें उठाकर अपने हृदय से लगाया और उन्हें अपना आशीर्वाद प्रदान किया। गुरुदेवजी ने प्रवचन-पंडालमें से आकर उनका परिचय भी उपस्थित जन-समूहको दिया तथा उनके कर्मठ जीवन की प्रशंसा करते हुए उनके उज्ज्वल भविष्य की मंगल-कामना व्यक्त की। योग-दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने

मन्त्रि-पद ग्रहण करने के सम्बन्ध में श्री गुरुदेव का सत्परामर्श मांगा। वे असमंजस में थे कि मंत्रिपद ग्रहण करने का आमंत्रण स्वीकार किया जाय या नहीं। श्री गुरुदेवजी ने उन्हें परामर्श दिया कि देशके व्यापक हित में कर्त्तव्य-पालन का जो अवसर उन्हें प्राप्त हो रहा है, उसे अवश्य ग्रहण करना चाहिए। श्री राजनरायण जी श्री गुरुदेव जी की आज्ञा शिरोधार्य कर पुनः दिल्ली रवाना हो गये।

अन्य दीक्षार्थियों में कलकत्ता, मध्यप्रदेश, बिहार, पंजाब, उत्तर-प्रदेश, आगरा राज्यों के शतशः व्यक्ति सम्मिलित थे।

इस प्रकार आश्रम का त्रिदिवसीय महोत्सव बड़े ही सात्विक और उल्लासमय वातावरण में आदि से लेकर अन्त तक सम्पन्न हुआ। बाहर से आये हुए हजारों गुरु भाई-बहन उत्सव की समाप्ति के पश्चात् भी कई-कई दिन तक आश्रम में बने रहकर अपने गुरुदेव के सत्संग में रहने और उनके मङ्गलमय दर्शन करने का लाभ लेते रहते हैं। श्री गुरुदेव जी भी सभी को अपने से जल्दी ही अलग न होने के लिए आग्रह करते रहते हैं। उनके प्रेम और स्नेहपूर्ण आग्रह को स्वीकार करके अधिकांश आगन्तुक भाई-बहन आश्रम में महोत्सव की समाप्ति के बाद भी आश्रम-प्रवास का सुअवसर पाने को वहां बने रहते हैं।

इस प्रकार आश्रम का वातावरण इन सबके प्रवास से अधिक चहल-पहलमय बना रहता है।

—❁ अपरिग्रह ❁—

आवश्यकता से अधिक सांसारिक पदार्थों का संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है। इसमें अनावश्यक भौतिक ज्ञानों का संग्रह भी सम्मिलित कर लेना चाहिए। 'प्रतिग्रह' के अन्न से चित्त का शान्त होना कठिन है, दाता की अनेक भावनायें उसमें मिली रहती हैं। शास्त्र के इस वचन को सदा ध्यान में रखना चाहिए—'अन्नशुद्धौ सत्व-शुद्धिः, ध्रुवा स्मृतिः'। धार्मिक-वृत्ति से उपार्जित कमाया धन ही शरीर और बुद्धि को पवित्र बनाता है। शारीरिक रसों का वर्धक, चिकना, लघु, हृद्य, स्वास्थ्य का स्थापक, आयु-बल बुद्धि-वर्धक आहार करना चाहिए। (जब मैं अपना कमाया हुआ अन्न खाता था, तो मन अनायास ही शान्त बना रहता था, अब अति सावधानी से दूसरों का अन्न खाता हूं कि वह शुद्ध कमाई का हो, जो निष्काम भाव से देता हो, जितनी हो सकती है उनकी सेवा भी करता हूं, फिर भी मन को शान्त रखने के लिए बल लगाना पड़ता है)।

—योगी सियाराम

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

चतुरशीति लक्षेषु शरीरेषु शरीरिणाम् ।
न मानुष्यं विनान्यत्र तत्त्वज्ञानं तु लभ्यते ॥

इस संसार में चौरासी लाख योनियों में पड़ने के बाद भी मनुष्य योनि में आये बिना अन्य शरीरों में प्राणी को ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती ।

× × ×

स्वत्वानुभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
यस्तारयति नात्मानं तस्मात् पापतरोऽत्रकः ॥

जो प्राणी इस मोक्षदायक इस दुर्लभ मनुष्य देह को प्राप्त करने के बाद भी ब्रह्म-चिन्तन के द्वारा अपने आपको आवागमन के बन्धन से मुक्त नहीं करता, उसके समान इस संसार में दूसरा पापी कौन हो सकता है ?

× × ×

विना देहे न कस्यापि पुरुषार्थो न विद्यते ।
तस्मात् देहे धनं रक्ष्यं पुण्य कर्माणि न साधयेत ॥

बिना शरीर के चतुर्वर्ग के फल की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए अवश्य इस शरीर की रक्षा करके अच्छे-अच्छे कार्य करने चाहिए ।

× × ×

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः सचेत् त्युक्तं न शक्यते ।
सद्भिः सह च कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥

इस संसार में अधिक मेल-मिलाप के मायाजाल में नहीं फँसना चाहिए । यदि मेल-मिलाप करना ही आवश्यक हो तो सज्जनों के साथ करना चाहिए, क्योंकि सज्जनों का संग एक प्रकार की औषधि है (जिससे जन्म-मरण के रोग से निवृत्ति हो जाती है) ।

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्ध योग

संस्थापक संपादक तथा संरक्षक
योगिराज अनंत श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

गम्भीर अध्ययन

अध्ययन में महत्त्व लम्बाई-चौड़ाई का नहीं, गम्भीरता का है। बहुत देर तक घण्टों भाँति-भाँति के विषयों का अध्ययन करते रहने को मैं लम्बा-चौड़ा अध्ययन कहता हूँ। समाधिस्थ होकर नित्य थोड़ी देर किसी एक निश्चित विषय के अध्ययन को मैं गम्भीर अध्ययन कहता हूँ। दस-बारह घण्टे सोने पर करवटें बदलना या सपने देखते रहना, ऐसी नींद से विश्रान्ति नहीं मिलती यदि पाँच-छः घंटे सोयें, किन्तु गाढ़ और निःश्वास निद्रा हो, तो उतनी नींद से पूर्ण विश्रान्ति मिल सकती है, यही बात अध्ययन की भी है। समाधि अध्ययन का मुख्य लक्षण है।

समाधियुक्त गम्भीर अध्ययन के बिना ज्ञान नहीं। लम्बा-चौड़ा अध्ययन बहुत कुछ आराम ही है, इसमें शक्ति का भी ह्रास होता है। अनेक विषयों पर पढ़ाई कर डालने से कुछ हाथ नहीं लगता। अध्ययन में प्रज्ञा स्वतंत्र और प्रतिभावान होनी चाहिए। प्रतिभा के मानी है बुद्धि में नई-नई कोंपलें फूटते रहना, नई कल्पना, नया उत्साह, नई खोज, नई स्फूर्ति — ये सब प्रतिभा के लक्षण हैं। लम्बी-चौड़ी पढ़ाई के नीचे यह प्रतिभा दबकर मर जाती है। —विनोबा

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'प्रिय' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, [illegible], आगरा-२